महाभारत
की
शिक्षाप्रद
कहानियाँ

महाभारत अपने युग का एक विशाल विश्वकोश है। इसके प्रणेता महर्षि वेदव्यास हैं। इसमें धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, दर्शन आदि सभी निहित हैं जो भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मूल आधार हैं। यही मुख्य कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य में जिन महान् ग्रन्थों को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उनमें महाभारत का अपना विशिष्ट स्थान है। महाभारत से उद्धृत ये कहानियाँ किसी धर्म-विशेष के पाठकों के लिए संगृहीत नहीं की गई हैं। यद्यपि ये कहानियाँ प्राचीन भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के पटल पर ही चित्रित हैं तथापि वे समस्त वैश्विक धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों के अनुयायियों के लिए समान रूप से शिक्षाप्रद सिद्ध होंगी, ऐसा विश्वास है।

ISBN 81-86504-14-1

✷ भारतीय साहित्य एवं संस्कृति माला – ४ ✷

महाभारत की शिक्षाप्रद कहानियाँ
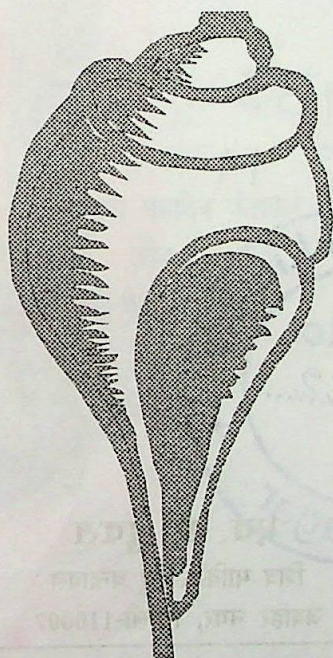
योगिनी दंडवते

एच. के. बुक्स

दिल्ली-110007

ISBN 81-86504-14-1

MAHABHARAT KI SHIKSHAPRAD KAHANIYAN

Compiled by

YOGINI DANDVATE

Rs. 100.00
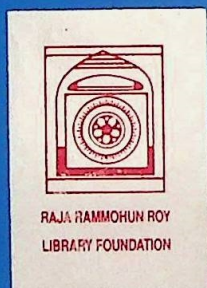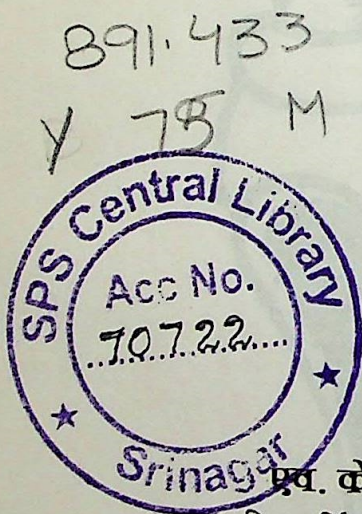
एच. के. बुक्स
शिव मार्किट, न्यू चन्द्रावल
जवाहर नगर, दिल्ली-110007

मूल्य : 100.00 रुपये, सर्वाधिकार : सुरक्षित
संस्करण : 2002 शब्द-संयोजक : विनायक कम्प्यूटर्स, रामनगर, शाहदरा, दिल्ली-32, मुद्रक : बी.के. ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-32

Published by
H.K.BOOKS
Shiv Market, New Chandrawal
Jawahar Nagar, Delhi-110007

पूज्य
श्री नारायण महादेव केतकर
और
श्रीमती कुमुद केतकर
को
सादर समर्पित

पूर्वकथ्य

महाभारत अपने युग का एक विशाल विश्वकोश है। इसके प्रणेता महर्षि वेदव्यास हैं। इसमें धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, दर्शन आदि सभी निहित हैं जो भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मूल आधार हैं। इसीलिए तो कहा गया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

अथवा हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अन्तर्गत जो कुछ यहाँ अर्थात् महाभारत में वर्णित किया गया है, वह सब इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान है और जिसकी चर्चा इस महान् ग्रन्थ में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

यही मुख्य कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य में जिन महान् ग्रन्थों को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उनमें महाभारत का अपना विशिष्ट स्थान है। भारत का शायद ही कोई ऐसा शिक्षित और अशिक्षित परिवार हो जिसमें महाभारत का नाम न पहुँचा हो और वह उसकी महिमा को न जानता हो। रामायण की भाँति इस अमर ग्रन्थ को भी बड़ा धार्मिक महत्त्व प्राप्त है

और इसकी कथा सर्वत्र बड़े मान से और आदर-भाव से पढ़ी एवं सुनी जाती है।

प्रस्तुत संकलन में महाभारत की मूल कथा का वर्णन नहीं किया गया है वरन् मूल कथा के साथ पिरोए हुए अनेक आख्यानों और उपाख्यानों में से जो आज की परिस्थिति में शिक्षाप्रद लगे, उन्हीं को संक्षेप में कथात्मक रूप में दिया गया है। ये कथाएँ सुगम्य और सुरस बन पड़ी हैं। कथाओं का वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि कहानी का क्रम भी न टूटे और उससे जो शिक्षा प्राप्त हो वह स्वतः स्पष्ट हो जाए।

ये कहानियाँ किसी धर्म-विशेष के पाठकों के लिए संगृहीत नहीं की गई हैं। यद्यपि ये कहानियाँ प्राचीन भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के पटल पर ही चित्रित हैं तथापि वे समस्त वैश्विक धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों के अनुयायियों के लिए समान रूप से शिक्षाप्रद सिद्ध होंगी, ऐसा विश्वास है।

–योगिनी दंडवते

अनुक्रम

अतिथि-सत्कार

एक घना जंगल था। वहाँ तरह-तरह के हिंस्र पशु रहते थे। वहीं एक शिकारी भी रहता था, जो दिखने में बड़ा ही भयानक था। उसका काला रंग, लाल-लाल आँखें, बड़े-बड़े बाल, आगे निकले हुए दाँत और लम्बा-चौड़ा शरीर किसी को भी भयभीत कर देता था। वह बड़ी क्रूरता से पशु-पक्षियों का वध करता था। उसका कोई मित्र नहीं था, क्योंकि उसके नीच कर्मों के कारण सभी उससे दूर रहते थे। वह पशु-पक्षियों का वध करता और उन्हें बेचकर अपना जीवन बिताता। उसे अपने काम में ही बड़ा आनन्द आता था।

एक बार उस जंगल में धुआँधार वर्षा हुई। तेज़ आँधी-तूफ़ान और बिजली कड़कने से पेड़ तो क्या पशु-पक्षी भी थर्राने लगे। घने काले बादल बरस-बरस जाते थे। सभी पक्षु-पक्षी अपने-अपने आश्रयों में छिप गए। उस समय वह शिकारी शिकार के लिए घूम रहा था। तेज़ बारिश से वह भीग गया था और असमय की इस ठण्ड में थरथर काँप रहा था। पानी से भरे जंगल में उसे राह नहीं मिल रही थी। ठण्ड से अकड़ी अपनी देह को वह मुश्किल से हिला पा रहा था। किसी तरह गिरता-पड़ता चला जा रहा था। उसी समय उसने एक कबूतरी को देखा। वह सर्दी से ठिठुरती धरा पर पड़ी थी। उसकी अत्यन्त दयनीय दशा थी। निष्ठुर शिकारी को उसपर दया नहीं आयी। उसने उसे उठाकर अपने पिंजरे में डाल लिया और आगे बढ़ चला। काफ़ी आगे जाकर उसे पत्तों और फलों से लदा एक हरा-भरा वृक्ष दिखाई दिया। अनेक पक्षी उसकी डालियों पर बैठे थे। शिकारी वृक्ष की ओर बढ़ा। उसी समय वर्षा रुक गयी। मेघ छँट गए और कुछ तारे भी दिखाई देने लगे। शिकारी ने सोचा कि घर तो बहुत दूर है, क्यों न रात यहीं बिता लूँ। वह वृक्ष के नीचे जा लेटा। ठण्ड, थकान और भूख के कारण उसकी जान निकली जा रही थी। फिर भी वह गहरी नींद सो गया।

उस वृक्ष पर एक कबूतर बैठा था। उसकी कबूतरी प्रातःकाल से दाना चुगने गई थी, पर अभी तक लौटी नहीं थी। उसकी प्रतीक्षा करते-करते वह बेचैन हो रुआँसा हो उठा था। उसी क्षण उसकी दृष्टि शिकारी के पिंजरे में बन्द अपनी कबूतरी पर पड़ी। वह उसके पास जाकर बैठा और दुःख से कातर

हो विलाप करने लगा। उसका प्रेममय कारुण्यपूर्ण रुदन देखकर कपोती ने उसे सान्त्वना दी और समझाया कि इतनी व्याकुलता ठीक नहीं। दुःख में भी संयम रखना चाहिए और शरणागत की रक्षा करनी चाहिए। तुम कर्त्तव्य और धर्म का पालन करते हुए इस शिकारी के लिए कुछ हितकर काम करो।

कबूतरी के पीड़ा-भरे उत्तम वचनो को सुनकर कबूतर ने अपने दुःख को दबाकर शिकारी से कहा, 'तुम्हारा स्वागत है। तुम्हें क्या चाहिए निःसंकोच कहो। शत्रु का भी सत्कार करना चाहिए।'

शिकारी ने कहा, 'मुझे बहुत ठण्ड लग रही है।'

कबूतर ने कुछ पत्ते एकत्रित किए। उड़कर एक लोहार के घर से आग लेकर आया। मुँह में दबी प्रदीप्त डण्डी से उसने आग जलायी। शिकारी तुरन्त आग सेंकने लगा। कुछ समय बाद उसकी देह में गरमाहट आयी और उसे ध्यान आया कि वह भूखा है। उसने कबूतर से कहा 'तुम मेरे भोजन की कुछ व्यवस्था करो। मैं भूख से व्याकुल हूँ।'

कबूतर बोला, 'मैं स्वयं भोजन के लिए वन पर निर्भर हूँ। अन्न-संग्रह तो करता नहीं। मैं तुम्हें क्या भोजन दूँ!' पर इतना कहकर कबूतर मन-ही-मन दुखी हो उठा। उसे लगा कि अतिथि से ऐसा कहना ठीक नहीं था। उसने अपनी प्रिय कबूतरी की तरफ़ देखा और क्षण-भर में ही उसका मुख दृढ़ निश्चय से भर उठा। उसने शिकारी से कहा, 'रुको पल-भर। मैं तुम्हारे आहार की व्यवस्था कर तुम्हें सन्तुष्ट करता हूँ।'

अगले ही क्षण उस श्रेष्ठबुद्धि कबूतर ने अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा की और अग्नि में कूद पड़ा।

शिकारी स्तम्भित रह गया। दूसरे का पेट भरने के लिए पक्षी का यह बलिदान देख वह शोक से भर उठा। अपने कर्मों का प्रायश्चित्त कर वह खुद को कोसने लगा। तभी उसकी नज़र कबूतरी पर पड़ी। उसने विलाप करती उस कबूतरी को छोड़ दिया और बार-बार उससे क्षमा माँगने लगा।

करुण विलाप करती उस कबूतरी ने उसे क्षमा कर दिया और अपने पति का अनुगमन कर वह भी उस अग्नि की भेंट चढ़ गयी।

दया, करुणा और प्रेम का ऐसा साक्षात्कार शिकारी को पहले कभी न हुआ था। उसी पल उसने व्याध-कर्म त्यागने का निश्चय किया और प्रायश्चित्त का उपाय ढूँढ़ता हुआ जंगल में भटकता रहा।

(शान्तिपर्व से)

शंख और लिखित

शंख और लिखित दो भाई थे। बाहुदा नदी के किनारे उनके दो अलग-अलग आश्रम थे। दोनों आश्रम फल-फूलों से लदे रहते थे।

एक बार लिखित शंख से मिलने उसके आश्रम में गया। उस समय शंख कहीं बाहर गया हुआ था। लिखित अपने भाई के आश्रम में इधर-उधर घूम रहा था। उसकी नज़र एक पेड़ पर गयी जिसमें बहुत-से पके हुए फल लगे थे। लिखित ने कुछ फल गिराए और बड़े इत्मीनान से उन्हें खाने लगा।

इसी समय वहाँ शंख आ पहुँचा। उसने लिखित को फल खाते देखकर उससे पूछा, 'ये फल तुम्हें कहाँ मिले और तुम इन्हें किस अधिकार से खा रहे हो?'

बड़े भाई को प्रणाम करके लिखित बोला, 'ये फल मैंने यहीं पेड़ से तोड़े हैं।'

शंख बोला, 'बिना पूछे फल तोड़कर तुमने चोरी की है, यह तुमने अच्छा नहीं किया। अतः तुम राजा के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार करो और वह जो आदेश दे, उसका पालन करो।'

लिखित चुपचाप राजमहल की ओर चल पड़ा, द्वारपाल से बोला, 'मुझे राजा से मिलना है।'

लिखित आया है, यह जानकर राजा स्वयं बाहर आ गया और बोला, 'भगवन्! प्रणाम। आपका क्या काम है, बताइए। वह हो ही गया समझिए।'

लिखित बोला, 'राजन्, मेरा काम पूर्ण करने का तुमने वचन दिया है। इसे ध्यान में रखकर सुनो। मैंने बड़े भाई के आश्रम में जाकर उनकी अनुमति लिये बिना ही फल तोड़कर खाए हैं। यह चोरी ही है। कृपया, मुझे यथायोग्य दण्ड दीजिए।'

राजा बोला, 'मुनिवर, मुझे दण्ड देने का जैसा अधिकार है, वैसा ही क्षमा करने का अधिकार है। मैंने आपका अपराध क्षमा कर दिया है। और कोई इच्छा हो तो बताइए।'

मुनि लिखित ने आग्रहपूर्वक कहा, 'मुझे क्षमा नहीं चाहिए। मुझे तो मेरे अपराध का दण्ड चाहिए।'

तब मन मारकर राजा ने उसे दण्ड सुनाया कि चोरी के अपराध में उसके दोनों हाथ तोड़ दिए जाएँ।

दण्ड का पालन हो जाने के पश्चात् लिखित बड़े भाई के पास गया और बोला, 'मेरी दुष्ट बुद्धि का दण्ड मुझे मिल गया है। अब आप मुझे क्षमा करें।'

शंख बोला, 'भाई, तुम्हारे प्रति अब मुझमें क्रोध नहीं है। तुमने मेरी कोई हानि नहीं की है। तुमने केवल धर्म का उल्लंघन किया। इसलिए तुम्हें प्रायश्चित्त करना पड़ा। जाओ, अब नदी में नहाकर यथाविधि पूजा इत्यादि करो।'

लिखित ने जब पानी में डुबकी लगायी तो उसके दोनों हाथ पूर्ववत् हो गए। वह भागा-भागा बड़े भाई के पास गया।

बड़ा भाई बोला, 'ऐसा मैंने ही तपस्या से प्राप्त सिद्धि के बल पर किया है।'

लिखित बोला, 'भाई! अगर आपके पास इतनी सिद्धि थी तो आपने मुझे पहले ही क्यों नहीं शुद्ध कर दिया?'

शंख बोला, 'पहले शुद्ध करने का अधिकार मेरा नहीं था। पहला काम राजा का था। जिस प्रकार तुमने कर्त्तव्यपूर्ति की, उसी प्रकार राजा को भी ऐसा करने का अवसर मिल गया।'

(शान्तिपर्व से)

चतुर चूहा

किसी घने वन में एक विशाल वटवृक्ष था। उसपर अनेक बेलें चढ़ी हुई थीं। उसपर तरह-तरह के पक्षियों के घोंसले थे। उसकी घनी डालियों में घनी छाया छितराई थी। जाने कितने पशु-पक्षी उसके आश्रय में रहते थे।

उसी वृक्ष की जड़ में एक चूहा रहता था। उसने अपने बिल में सैकड़ों द्वार खोदे हुए थे। वह चूहा अत्यन्त बुद्धिमान् था। उसका नाम था पलित।

उसी वटवृक्ष की एक डाल पर एक बिल्ली रहती थी जिसका नाम था लोमश। जंगल में रहने के कारण चूहा और बिल्ली दोनों ही बड़े शक्तिशाली हो गये थे।

उसी वन के किनारे एक शिकारी रहता था। रोज़ शाम को वह बरगद के नीचे जाल बिछा देता था। जाल में तरह-तरह का स्वादिष्ट मांस भी वह अटका देता और फिर घर जाकर गहरी नींद सो जाया करता। रोज़ रात को उस जाल में अनेक पशु फँस जाते थे। प्रातः होते ही व्याध उन्हें पकड़कर ले जाता था।

एक रात उस जाल में बिल्ली भी फँस गयी। हालाँकि वह सदा सावधान रहती थी, पर मुसीबत में पड़ ही गयी। चूहे ने जब अपने बलवान् और क्रूर शत्रु को जाल में फँसा देखा तो भयमुक्त होकर मस्त घूमने लगा। और साथ-ही-साथ वह अपना आहार खोजने लगा। तभी उसे जाल में अटका हुआ मांस दिखा तो वह मज़े में मांस खाने लगा। पेट भर जाने के बाद जब वह इधर-उधर देखने लगा तो उसे चारों ओर अपने भयंकर शत्रु दिखाई दिए।

एक था नेवला। वह बड़ा चुस्त था। चूहे की गन्ध से वह झटपट वहाँ आ गया था और कुछ दूर खड़ा अपने आहार को देख रहा था। दूसरा शत्रु दिखा एक बड़ा-सा भयानक उल्लू। यह उल्लू बरगद के एक कोटर में रहता था। इस समय एक डाली पर बैठा वह भी अपने भक्ष्य को देख रहा था।

पलित बुरी तरह डर गया। साक्षात् मृत्यु तीन रूपों में उसके सामने खड़ी थी। क्या करे, उसे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। वह निरन्तर सोच रहा था, यदि यहाँ रहा तो सुबह शिकारी के आने पर बन्धन खुलेगा और बिल्ली मुझे खा लेगी। बाहर निकलूँगा तो नेवला निगल लेगा और पेड़ पर

चढ़ूँगा तो उल्लू झपट्टा मारेगा। मुझे कुछ उपाय सोचना चाहिए। जैसे कितना ही बड़ा संकट क्यों न हो, बुद्धिसम्पन्न और नीतिशास्त्र में पारंगत प्रज्ञावान् पुरुष डगमगाता नहीं है—स्थिरचित्त होकर मार्ग ढूँढ़ता है वैसे ही मुझे इस समय करना चाहिए। मुझे इस बिल्ली की मदद लेनी चाहिए, क्योंकि इस समय यह भी संकट में है।

चूहे ने बिल्ली से कहा, 'देखो! मैं तुमसे मधुरता से बात कर रहा हूँ। क्या तुम सुखी हो? तुम भरपूर जीवन जीयो, ऐसा मैं चाहूँगा। इस समय तुम्हें इस संकट से केवल मैं ही मुक्त कर सकता हूँ क्योंकि मैं तुम्हारे पाश काट सकता हूँ। यदि तुम मुझे इस क्षण अभयदान दोगी तो मैं तुम्हें शिकारी के जाल से मुक्त कर दूँगा—ऐसा मैं तुम्हें वचन देता हूँ। तुम सोचकर मुझे बताओ।'

बिल्ली काफ़ी देर सोचती रही। फिर उसे लगा कि चूहे की अगर अभी रक्षा की तो वह मेरे बन्धन काट देगा। रही इसे खाने की बात तो यह काम तो फिर कभी भी निपटाया जा सकता है।

यह सोचकर बिल्ली ने उसे हामी भर दी।

बुद्धिमान् चूहे ने संकटग्रस्त शत्रु की बातों पर विश्वास किया और निश्चिन्त होकर बिल्ली के पास जाकर सिमटकर सो गया। इस दृश्य को देखकर नेवला और उल्लू दोनों ही दंग रह गए। यूँ तो वे दोनों समर्थ और बलवान् थे, लेकिन अब तो कोई उपाय नहीं था। चूहे के पास जाने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। उनके दाँवपेंच को देखकर वे दोनों निराश होकर लौटने को तैयार हुए, पर फिर पास ही छिपकर बैठ गए।

उनके जाते ही चूहे ने धीरे-धीरे जाल को काटना शुरू किया। उसकी मन्द गति को देखकर बिल्ली अधीर हो उठी। उसने बेचैनी से कहा, 'तुम ज़रा जल्दी-जल्दी काम करो न!'

चूहा मन-ही-मन मुस्कराकर बोला, 'धीरज धरो, बिल्ली रानी! सही समय पर मैंने काम शुरू किया है।'

'मगर अगर सही समय पर समाप्त नहीं हुआ तो मैं तो शिकारी के हाथ पड़ जाऊँगी। देखो! मैं तो तुम्हारी मित्र हूँ न!' बिल्ली बोली।

'कोई किसी का मित्र नहीं होता और कोई किसी का शत्रु नहीं होता। काम पड़ने पर ही सब एक-दूसरे के निकट आते हैं।' चूहे ने उत्तर दिया।

'पलित भाई! मैंने समय आने पर तुमसे मित्रता निभायी। अब अगर तुम जल्दी-जल्दी मेरा बन्धन नहीं काटोगे तो मैं तुम्हारा बलवान् शत्रु हूँ, इसे मत भूलना।' लोमश बिल्ली ने चूहे को ललकारते हुए कहा।

पलित ने हँसकर उत्तर दिया, 'अरी लोमश! यही तो मैं नहीं भूला।'

लोमश उसके हँसने का अर्थ सोचती रही और पलित धीरे-धीरे ही जाल काटता रहा।

तब तक सुबह होने लगी। दूर से वह शिकारी आता दिखाई दिया। उसके हाथों में हथियार थे। वह मज़बूत शरीर और भयानक चेहरे-वाला शिकारी था। उसके साथ शिकारी कुत्ते भी थे।

यमदूत के समान उस शिकारी को देखकर लोमश बिल्ली ने भयभीत होकर पलित चूहे से पूछा, 'अब तुम क्या करोगे?'

पलित चुपचाप जाल के अन्तिम पाश कुतरने में जुटा रहा।

शिकारी को आते देख उल्लू और नेवले की अन्तिम आस भी जाती रही। वे तुरन्त वहाँ से भाग गए।

शिकारी के बिलकुल पास पहुँचते ही पलित ने लोमश को पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया। लोमश तो यह सोचे बैठी थी कि मुक्त होते ही वह पलित को खा लेगी।

लेकिन चतुर पलित ने जिस क्षण उसके जाल को पूरी तरह से कुतर डाला, उसी क्षण तो पहले उसे अपनी जान बचानी थी क्योंकि शिकारी तो सिर पर आ धमका था। लोमश फुर्ती से बरगद की सबसे ऊँची डाल पर चढ़ बैठी और उतनी ही फुर्ती से पलित अपने बिल में घुस गया।

शिकारी ने जाल को हाथ में लेकर देखा। जाल की हालत को देखकर और शिकार के हाथ से चले जाने का उसे खेद हुआ। निराश होकर वह अपनी राह चला गया।

(शान्तिपर्व से)

तीन भाई

गौतम ऋषि के तीन पुत्र थे : एकत, द्वित और त्रित। तीनों बड़े तेजस्वी थे। पिता गौतम उनपर सदैव प्रसन्न रहते थे। गौतम के स्वर्गवास के बाद उसके यजमान गौतम-पुत्रों का आदर-सत्कार करने लगे। अपने शुभ कर्मों और स्वाध्याय के कारण त्रित सर्वश्रेष्ठ था। पिता के समान उसका भी समाज में सम्मान था।

एक बार एकत और द्वित यज्ञ और धन की चिन्ता करने लगे। उनके मन में यह विचार आया कि त्रित को साथ लेकर यजमानों के यहाँ यज्ञ किए जाएँ और दक्षिणा-स्वरूप अनेक पशु प्राप्त कर सांसारिक सुख प्राप्त किए जाएँ। यज्ञ में ही प्रसन्नता से सोमरस का पान भी किया जाए। उन्होंने यह विचार त्रित को बताया। उसकी सहमति से तीनों यज्ञ-यागादि में जुट गए।

उन्हें अनेक पशु दक्षिणा-स्वरूप मिले। उन पशुओं को लेकर वे पूर्व की ओर चल पड़े। त्रित सबसे आगे था। एकत और द्वित पशुओं को हाँकते हुए पीछे-पीछे चल रहे थे।

पशुओं की बड़ी संख्या को देखकर एकत और द्वित के मन में पाप जागृत हुआ। उन्होंने सोचा, त्रित तो वेदवेत्ता है। वह यज्ञ कराने में कुशल है। उसका समाज में पिताजी की तरह बड़ा सम्मान है। वह तो सरलता से और गायें प्राप्त कर लेगा। इस समय हम दोनों मिलकर इन गायों को हाँक पीछे को पीछे ले चलें। फिर त्रित की जहाँ मर्ज़ी होगी, वहाँ जाए।

रात का समय था। आगे त्रित, उसके पीछे गायें और अन्त में एकत तथा द्वित चल रहे थे। आगे रास्ते पर एक भयानक भेड़िया खड़ा था। भेड़िए के डर से त्रित चिल्लाया। फिर वह डरकर भागने लगा। थोड़ी दूर पर एक कुआँ था। त्रित उसमें गिर गया। वह ज़ोर-ज़ोर से सहायता के लिए चिल्लाने लगा।

भाइयों ने त्रित की चिल्लाहट सुनी। फिर वे एक-दूसरे से बोले, 'वैसे ही हम त्रित को छोड़ने की बात सोच रहे थे। चलो, हमें कुछ नहीं करना पड़ा।' वे त्रित की चीखों को अनसुना करके गायों को लेकर वहाँ से चलते बने।

इधर त्रित ने ज़रा देर में अनुभव किया कि कुआँ तो अन्धा है। इसमें

पानी नहीं हैं, नमी अवश्य है। नमी के कारण वहाँ एक बेल उग आयी थी और वह काफ़ी फैल गई थी। थोड़ा स्वस्थ होने पर त्रित वहीं पालथी मारकर बैठ गया। वह ज़ोर-ज़ोर से वेद-पठन करने लगा।

बहुत देर बाद किसी ने उसकी आवाज़ सुनी। उसने और लोगों को बतलाया। कई लोग इकट्ठे हुए और उन्होंने वेद-पठन करनेवाले त्रित को बाहर निकाला। उसे बहुत दान-दक्षिणा भी मिली।

त्रित अपने भाइयों के बुरे आचरण पर बड़ा नाराज़ हुआ। फिर उसने सोचा कि वे मुझे अलग करना चाहते थे, जो दैववशात् हो ही गया। अतएव उसने भाइयों को क्षमा कर दिया।

(शल्यपर्व से)

फिर कुत्ते का कुत्ता

घने अरण्य में तपस्या में लीन एक ऋषि रहा करते थे। वे कन्दमूल, फल खाया करते। स्वाध्याय करते। व्रत नियमों का पालन करते। उस शुद्ध आचरण-वाले एवं स्नेहशील मन-वाले ऋषि से पशु-पक्षी भी प्रेम करने लगे थे। सिंह, बाघ, हाथी, चीते, गैंडे, भालू और अन्य भयंकर पशु भी उनके चरणों में आ बैठते। उनका कुशल-मंगल पूछते। ऋषि भी अपनी सौम्य वाणी से उनपर प्रेम-वर्षा करते। फिर वे सभी हिंस्र विनम्रता से चले जाते।

उन जंगली पशुओं में एक कुत्ता भी ऋषि का भक्त था। वह पहले कभी मनुष्यों के बीच रहता था। ऋषि पर उसे श्रद्धा थी और नित्य उपवास करने के कारण वह बहुत दुर्बल हो गया था। कन्दमूल, फल और पानी ही उसका भी नित्य का आहार था। सब पशु ऋषि को छोड़कर चले जाते थे, परन्तु वह उन्हें छोड़कर कभी नहीं गया।

एक दिन की बात है। एक रक्तपिपासु, अत्यन्त बलशाली चपल चीता वहाँ आया। वह काल की भाँति संहारक दीख रहा था। वह बहुत ही भूखा और प्यासा था। उसी समय उसने कुत्ते को देखा और एकटक देखता ही रहा।

प्राण बचाने के लिए भयभीत कुत्ता ऋषि से विनती करने लगा, 'भगवन्! कुत्तों का बैरी यह चीता मुझे खाने यहाँ आया है। आपकी कृपा से मुझे डर न लगे, ऐसा कुछ करें।'

ऋषि सर्वज्ञानी थे। फिर भी कुत्ते के भय को जानकर बोले, 'वत्स! तू भयभीत न हो। तू स्वयं चीते का रूप प्राप्त करेगा।'

पल-भर में कुत्ता चीता बन गया। उसका शरीर सोने के रंग जैसा तेजस्वी हो गया। सुन्दर काले बिन्दु त्वचा पर दीखने लगे। वह अत्यन्त बलशाली था। उसके निर्भीक रूप को देखकर पहले-वाला चीता कुछ न कर पाया और वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

कुछ दिनों बाद भूख से पीड़ित एक अत्यन्त बलशाली बाघ इस चीता बने हुए कुत्ते पर झपटा। चीता फिर अपनी जान बचाने के लिए ऋषि की शरण में गया। ऋषि ने उसके प्रेम से वशीभूत हो चीते को बाघ में बदल दिया। अतः पहले-वाला बाघ डरक़र भाग गया।

बाघ बनने के बाद यह कुत्ता बड़ा बलवान् हो गया। अपनी जाति के कर्मानुसार अब वह मांस खाने लगा।

एक दिन वह मारे हुए पशु खाकर ऋषि की पर्णकुटी के द्वार पर बैठा था। तभी वहाँ एक विकराल, मदोन्मत्त, गर्वीला हाथी आया। उसे अपनी ओर बढ़ते देख कुत्ता फिर महर्षि की शरण में भागा। दयालु ऋषि ने उसे अधिक प्रचण्ड हाथी के रूप में बदल दिया और डर से पहले-वाला हाथी भाग गया।

पर्णकुटी के पास के कमलों-भरे सरोवर में यह मुक्त विहार करने लगा। कुछ दिनों बाद हाथियों का भी संहार करनेवाला, बड़ी अयाल-वाला एक भयंकर सिंह उधर आया। उसे देख यह हाथी डर से थर-थर काँपने लगा। वह ऋषि के पास भागा। ऋषि ने फिर उसकी विवशता समझी और उसे उससे भी अधिक शक्तिशाली सिंह में बदल दिया। जंगली सिंह इससे भयभीत हो जंगल में चला गया।

अब सिंह बना यह कुत्ता आश्रम के पास रहने लगा, वन्य पशुओं को खाने लगा। उसके भय से वन्य पशु अब आश्रम के पास नहीं आते थे।

अब कुत्ते से सिंह बना यह प्राणी पूर्ण रूप से हिंस्र होकर वन्य प्राणियों का रक्त-मांस खाता वन में घूमता। एक दिन जब कुछ और नहीं मिला तो भूख से पीड़ित हो उसने ऋषि को ही खाना चाहा।

ज्ञानी ऋषि उसके आक्रमण का भाव पहले ही समझ गए। उन्होंने कहा, 'मूर्ख! पापी! ममता से भरकर मैं सदा तेरी रक्षा करता रहा और तू मेरा भक्षण करने ही पर प्रवृत्त हुआ है। मैं तुझे फिर श्वान होने का श्राप देता हूँ।'

सिंह फिर से कुत्ता बन गया और दीन-सा होकर पूँछ हिलाने लगा।

ऋषि ने उसे आश्रम से बाहर भगा दिया।

(शान्तिपर्व से)

ऋषि का मूल्य

प्राचीन काल में एक महातेजस्वी ऋषि थे–च्यवन। एक बार उन्होंने कठोर तपस्या का व्रत लिया। उन्होंने निश्चय किया कि वे गंगा और यमुना के महासंगम पर जलधारा के भीतर तपस्या करेंगे। अपनी देह को काष्ठवान् कर वे जलधारा में लेट गए। इस तरह की तपस्या करते-करते उन्हें कितने ही महीने बीत गए।

उन दिनों मछुआरों ने मछलियों को पकड़ने के लिए एक बहुत-बड़ा जाल नदी में डाला। ऋषि भी जाल में फँस गए। जाल बाहर निकालने पर मछुआरों ने देखा कि उसमें ऋषि भी हैं तो वे चकित रह गए। भयभीत होकर उन्होंने ऋषि से क्षमा माँगी और उन्हें जाल से मुक्त किया। लेकिन ऋषि ने कहा, 'यदि मेरे साथ इन मछलियों को मुक्त करोगे तभी मैं यहाँ से जाऊँगा।'

मछुआरे भय से काँप उठे क्योंकि मछलियाँ तो मर चुकी थीं। ऋषि फिर कह रहे थे, 'आज मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ इच्छा व्यक्त कर रहा हूँ। सब ध्यान से सुनें। मछलियों के साथ मेरे प्राण जाएँगे। मैं जल में इनके साथ रहा हूँ। मैं इन्हें त्याग नहीं सकता।'

मछुआरों के चेहरे सफ़ेद पड़ गए। उनमें से कुछ मछुआरे अपने राजा नहुष के पास पहुँचे और उन्हें पूरी घटना की जानकारी दी।

राजा तुरन्त अपने अमात्य और पुरोहित आदि के साथ उस स्थान पर गए। राजा ने नदी में विधिपूर्वक मुँह-हाथ-पैर धोए, फिर ऋषि के पास पहुँचे। उन्होंने महात्मा च्यवन को अपने बारे में बताया।

राजपुरोहित ने भी आगे बढ़कर महातपस्वी की पूजा की। तत्पश्चात् नहुष ने कहा, 'हे श्रेष्ठ तपस्वी! आपके लिए मैं क्या करूँ जो आपको प्रिय हो। यदि वह अत्यन्त कठिन कार्य भी होगा तो भी मैं उसे पूरा करने का यत्न करूँगा।'

च्यवन ने कहा, 'ये मछुआरे मछलियों पर ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। इन्हें अत्यन्त श्रम करना पड़ा है। इसलिए तुम इन्हें मछलियों के साथ मेरा भी मूल्य दे दो।'

नहुष ने कहा, 'राजपुरोहित जी! महर्षि के वचनानुसार इन मछुआरों को एक हज़ार मुद्राएँ दे दी जाएँ।'

च्यवन ने कहा, 'हे राजन्! मेरा मूल्य इतना कम! तुम्हें क्या लगता है? मेरा उचित मूल्य सोच-समझकर उन्हें दो।'

नहुष ने कहा, 'राजपुरोहित जी! मछुआरों को एक लाख मुद्राएँ दे दी जाएँ! भगवन्! क्या यह उचित है?'

च्यवन ने कहा, 'हे राजश्रेष्ठ! मेरा मूल्य एक लाख नहीं होगा। अपने अमात्यों से विचार-विमर्श करो।'

नहुष ने कहा, 'राजपुरोहित जी! मछुआरों को एक करोड़ मुद्राएँ दें। मुनिवर! यह भी आपका उचित मूल्य न हो तो अधिक दें।'

च्यवन ने कहा, 'नहीं राजन्! एक करोड़ या उससे अधिक भी मेरा मूल्य नहीं। तुम ब्राह्मणों के साथ विचार-विमर्श करो।'

नहुष ने कहा, 'मुझे लगता है, मेरा आधा या पूरा राज्य आपका सही मूल्य होगा। हे तपस्वी! आप क्या सोचते हैं?'

च्ययन ने कहा, 'नहीं यह भी उचित मूल्य नहीं। तुम ऋषियों से विचार-विमर्श करो।'

चिन्तित होकर राजा नहुष सभी के साथ विचार-विमर्श करने लगे।

तभी वहाँ से गविजात नामक एक ऋषि निकले। सारी स्थिति जानकर वे बोले, 'मैं आपको उचित उपाय बताता हूँ।'

नहुष गिड़गिड़ाकर बोले, 'हे ऋषिवर! कृपा करके हमारा उचित मार्गदर्शन करें और हमें महर्षि च्यवन के कोप से बचाएँ।''

गविजात ऋषि ने उत्तर दिया, 'हे राजन्! ब्राह्मण और गाय—इनका मूल्य निश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिए मेरा परामर्श है कि इन दोनों का मूल्य एक गाय के जितना निश्चित किया जाए।'

राजा नहुष प्रसन्न मन से च्यवन ऋषि के पास पहुँचे और उन्हें बताया कि उनका मूल्य एक गाय जितना तय किया गया है।

च्यवन ऋषि अति सन्तुष्ट हुए। उन्होंने गाय की महिमा का वर्णन किया और सभी को आशीर्वाद देकर चले गए।

ऋषि गविजात भी आनन्दपूर्वक अपने आश्रम लौट गए।

सभी ने चैन की साँस ली।

(अनुशासनपर्व से)

कौआ चला हंस की चाल

एक व्यापारी के घर के आँगन में एक कौआ नित्य आया करता था। व्यापारी के परिवार के बच्चे-बड़े सब उसे पहचानने लगे थे। उनकी जूठन खाकर वह बड़े ठाठ से अपना जीवन बिता रहा था।

एक दिन उस ओर मानसरोवार से कुछ हंस आए। उन सुन्दर हंसों ने बताया कि वे ऊँची और लम्बी उड़ानें उड़कर आए हैं।

व्यापारी के बच्चों ने यह सुना तो बोले, 'यह कौआ भी ऊँची उड़ान भर सकता है। यह तुमसे भी अच्छी उड़ान भर सकता है।'

हालाँकि कौआ अपना सामर्थ्य जानता था, पर फिर भी उसे अहंकार हो गया। जूठन खाकर जीनेवाला कौआ उससे ज्यादा क्या सोच सकता था!

गर्व से भरकर कौआ बोला, 'हाँ! हाँ! मैं तो एक सौ एक तरह की उड़ाने जानता हूँ। तुम चाहो तो कोई शर्त रख सकते हो।'

हंस हँसकर कौए से बोले, 'हे काक! हम मानसरोवर पर रहनेवाले हंस हैं। हम दूर की उड़ान कर आते हैं, इसलिए सभी पक्षी हमें श्रेष्ठ मानते हैं, और हमारा सम्मान करते हैं। तुम्हारी बुद्धि मोटी है। अच्छी तरह सोचकर बताओ। क्या तुम हमसे होड़ करने का सामर्थ्य रखते हो?'

गर्विष्ठ कौए ने अपनी जातिगत क्षुद्रता को नहीं छोड़ा। व्यापारी के बच्चे और अन्य पशु-पक्षी भी उन्हें उकसाने लगे। हंस को पराजित करने का दम्भ भरनेवाला कौआ सहर्ष तैयार हो गया। दोनों ने उड़ना शुरू किया। कितने ही प्रेक्षक ऊपर देखते हुए कोलाहल करने लगे। अन्य कौए साथ में उड़कर उसका हौसला बढ़ाने लगे।

उन्हें अपनी क्षमता तथा कौशल दिखाने के लिए कौआ सौ प्रकार की उड़ाने भर रहा था जिन्हें देखकर सभी दंग हो रहे थे। साथ-साथ वह अपनी बढ़ाई करता।

उधर हंस एक-सी गति एवं एक ही प्रकार से उड़ रहा था। सभी को लगा, हंस हार जाएगा।

फिर हंस सागर की ओर मुड़ा और सागर पर उड़ने लगा। कौआ भी सागर पर उड़ने लगा। अब वह थक गया था। दूर तक असीम जलराशि के

अलावा उसे कुछ नहीं दीख रहा था। इस महाविशाल समुद्र में कितने ही जलचर होंगे जो मेरे गिरते ही मुझे खा लेंगे—कौआ यही सोच रहा था क्योंकि अपनी सीमाओं को वह पहचानता था। थक चुका था वह। उसकी शक्ति चुक गई थी। उसके पंखों में दम बाकी न था। श्वास रुद्ध हो रहा था। बार-बार वह पानी पर गिर-गिर जाता था।

अन्ततः कौआ हंस से क्षमा माँगकर अपने बचाव की प्रार्थना करने लगा। और इस प्रकार वह अपनी तुच्छता को स्वीकार करने लगा।

'हे हंस! मेरी रक्षा करो। मैं फिर कभी व्यर्थ का अभिमान नहीं करूँगा।' कौए ने गिड़गिड़ाते हुए कहा।

हंस को उसपर दया आ गयी। उसने एक झटके से कौए को उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया और फिर लौट आया।

कौए को उसके स्थान पर उतारकर हंस अपने दूर देश की ओर उड़ चला।

(कर्णपर्व से)

तिलोत्तमा

सुन्द और उपसुन्द दो भाई थे। दोनों महासमर्थ और महापराक्रमी थे, पर साथ ही उग्र और निष्ठुर भी थे। दोनों प्रत्येक काम एकमत से करते थे। दोनों का निश्चय एक ही हुआ करता था। आपत्काल में भी दोनों का सखाभाव दृढ़ बना रहता था।

कालान्तर में वे बड़े हुए। उनकी मनोकामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की कोई सीमा न रही। उन्होंने तय किया कि तीनों लोकों को जीत लिया जाए। इस सम्बन्ध में उन्होंने गहन विचार-विमर्श किया। कार्यसिद्धि के लिए दीक्षा लेकर शक्ति प्राप्त करने लगे। दीर्घ काल तक बड़ी उग्र तपश्चर्या की। पहले उन्होंने अन्न छोड़ा, फिर जल का त्याग किया और अन्त में मात्र वायु-भक्षण करके ही रहने लगे। आगे चलकर वे अपने शरीर के मांस के टुकड़ों की अग्नि में आहुति देने लगे। उनका यह अघोरी व्रत कई वर्ष तक चलता रहा।

देवता उनकी इस भीषण तपश्चर्या से भयभीत हो गए। उन्होंने उनकी तपश्चर्या को भंग करने के कई प्रयत्न किए परन्तु सुन्द-उपसुन्द के दृढ़ निश्चय के आगे उनकी एक न चली। अन्त में स्वयं ब्रह्माजी सुन्द-उपसुन्द के सामने प्रकट हुए और उन्हें वर माँगने को कहा।

दोनों भाई हाथ जोड़कर खड़े हो गए और बोले, 'पितामह! हमें अस्त्र-विद्या में पारंगतता, इच्छा के अनुसार कोई भी रूप धारण करने की शक्ति और अमरत्व प्रदान कीजिए।'

ब्रह्माजी बोले, 'मैं तुम्हें अमरत्व तो नहीं दे सकता। किन्तु तुम दोनों तुल्य बलशाली होगे। तुमसे बढ़कर कोई शक्तिशाली नहीं होगा। और किसी अन्य से तुम अवध रहोगे।'

शक्तिसम्पन्न होकर वे दोनों भाई अपने स्थान पर लौट गए। उन्हें लौट आया देख उनकी पत्नियों ने आनन्दोत्सव मनाए।

उत्सव समाप्त होते ही दोनों भाइयों ने त्रिलोक जीतने का निश्चय दोहराया। बड़ी सेना और साज-सामान लेकर वे निकले। देखते-देखते उन्होंने अनेक राज्य जीत लिये। देवताओं से स्वर्गलोक छीन लिया। नागरिकों को नगरों से निकाल दिया। ऋषि-मुनियों के आश्रम जला दिए। सब देवता ध्वस्त-त्रस्त

हो ब्रह्माजी की शरण में पहुँचे। सबने ब्रह्माजी से प्रार्थना की; हे पितामह! सुन्द-उपसुन्द के विरुद्ध कोई उपाय शीघ्रातिशीघ्र करिए।

सारी परिस्थितियों पर तनिक विचार करने के बाद ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा को बुलाया और कहा, 'एक ऐसी अनुपम सुन्दर स्त्री का निर्माण करो जिसके प्रभाव से सारे संसार में कोई भी न बच पाए।'

विश्वकर्मा ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर विश्व की समस्त चराचर वस्तुओं की सुन्दरता में से सबसे महत्त्वपूर्ण कणों को लेकर एक अत्यन्त लावण्यवती कामिनी का निर्माण किया। प्रत्येक वस्तु में से तिल-तिल सौन्दर्य लेकर उस सुन्दरी का निर्माण किया गया। इसलिए ब्रह्माजी ने उसका नाम तिलोत्तमा रखा।

ब्रह्माजी ने उसे आदेश दिया, 'तुम सुन्द-उपसुन्द के पास जाओ और अपने अनुपम सौन्दर्य के प्रभाव से उनको अपने वशीभूत कर लो। ऐसा कुछ करो कि उनमें परस्पर लड़ाई हो जाए।'

'जो आज्ञा' कहकर तिलोत्तमा वहाँ से चल पड़ी। जब वह सुन्द-उपसुन्द के पास पहुँची तो वहाँ आनन्दोत्सव हो रहा था। एक विशाल उपवन में कार्यक्रम का आयोजन था। मधुर वाद्य बज रहे थे। स्त्रियाँ नृत्य कर रही थीं। पास बह रही नदी के किनारे तरह-तरह के आमोद-प्रमोद के साधन थे। सुन्द-उपसुन्द मदिरापान करके घूम-फिरकर आनन्द ले रहे थे।

फूल तोड़ने का अभिनय करती हुई तिलोत्तमा एक पेड़ के पास खड़ी हो गयी। सभी उपस्थित जन अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगे। जब सुन्द-उपसुन्द का ध्यान उसकी ओर गया तो वे तत्काल उसके पास गए। दोनों उसकी सुन्दरता से वशीभूत होकर उसके पास गए थे। सुन्द ने उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया, उपसुन्द ने बायाँ। दोनों उसे प्राप्त करना चाहते थे। वे एक-दूसरे की ओर भयंकर क्रोध से देखने लगे।

सुन्द बोला, 'यह मेरी होनेवाली पत्नी है। तू इसका सम्मान कर।'

उपसुन्द ने कहा, 'यह मेरी मंगेतर है। तेरी होनेवाली भाभी।'

दोनों 'यह मेरी है, यह मेरी है।' कहते हुए झगड़ने लगे। झगड़ा बढ़ता गया। तिलोत्तमा के उन्मादक रूप ने उन्हें इतना पागल बना दिया कि वे गदा लेकर एक-दूसरे से लड़ने लगे। उन दोनों में भयानक युद्ध हुआ। दोनों ने एक-दूसरे को इतना मारा कि अन्ततः दोनों अपने प्राण गँवा बैठे।

(आदिपर्व से)

रानी और पानी

इक्ष्वाकु वंश में एक श्रेष्ठ वीर राजा थे—परीक्षित्।

एक दिन वे शिकार खेलने गए। वे घोड़े पर बैठकर किसी हिंस्र पशु का पीछा कर रहे थे। वह पशु उन्हें बहुत दूर घने जंगल में ले गया।

राजा बहुत थक गए थे। भूख-प्यास से व्याकुल थे। तभी उन्होंने एक अन्य जंगल देखा जहाँ नीले पत्तों के वृक्ष थे। वह इतना घना वन था कि वहाँ दिन में भी अन्धकार छाया हुआ था। चलते-चलते राजा को एक रमणीय सरोवर दिखाई पड़ा। राजा ने उसका मीठा जल पिया। कुछ कमलनाल अपने घोड़े के खाने के लिए छोड़कर वे स्वयं विश्राम करने लगे। तभी राजा ने मधुर ध्वनि सुनी। राजा उस स्वर की दिशा में खिंचते चले गए।

कुछ दूरी पर उन्होंने एक अनिन्द्य सुन्दरी को फूल चुनते हुए देखा। राजा उसपर मोहित हो गए। उन्होंने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की।

यह सुनकर वह युवती बोली, 'हे राजन्! मैं भी आपसे विवाह करके आनन्दित होऊँगी, परन्तु क्या आप मुझे एक वचन देंगे?'

राजा ने कहा, 'हाँ! मैं तत्पर हूँ।'

युवती ने कहा, 'मुझे कभी पानी के दर्शन न हों।'

राजा ने इस बात को मान लिया और वे उसी समय विवाहबद्ध हो गए।

तभी राजा के सैनिक उन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ आए। उन्होंने राजा और रानी को प्रणाम किया और पालकी में रानी को बैठाकर वे सभी महल में लौट आए।

राजा ने रानी को एक विशेष महल में रखा। रानी की सेवा में अनेक दासियाँ नियुक्त की गयीं। फिर राजा भी दिन-रात उसी महल में रहने लगे। उन्होंने राज-काज करना बन्द कर दिया। बाहर निकलना, मिलना-जुलना, दरबार—सब बन्द कर दिया। राज्य चलाने के लिए ऐसी नादानी हानिकारक होती है। राज्य के अधिकारी, सेनापति, महामन्त्री—सभी चिन्ता में पड़ गए।

विवश होकर उन्होंने रानी के प्रति राजा के उत्कट प्रेम का पता लगाना शुरू किया। रानी के बारे में जानकारी एकत्रित करनी प्रारम्भ की। इसी खोजबीन में उन्हें पता चला कि महल में पानी रखना मना है। यहाँ तक कि रानी किसी भी स्थिति में पानी के दर्शन नहीं करती।

बुद्धिमान् महामन्त्री को एक उपाय सूझा। उन्होंने बाहर एक अत्यन्त रमणीक उद्यान लगवाया। विविध प्रकार के वृक्षों से भरा एक सुन्दर स्थान था वह! वहाँ फूलों की क्यारियों और मृदु घास के ग़लीचे बिछ गए तो वह स्थान सहज ही पक्षियों के कूजन-विहार का स्थान बन गया। राजा को यह स्थान अवश्य आनन्दित करेगा, यह जानकर महामन्त्री ने राजा को उस उद्यान में आमन्त्रित किया। राजा ने रानी के साथ उस उद्यान में प्रवेश किया। दोनों को वह स्थान बहुत अच्छा लगा। वे वहाँ विहार करने लगे।

कुछ समय बाद राजा को प्यास लगी। प्यास से वे बेचैन हो उठे। वहाँ महामन्त्री ने एक कुआँ भी बनवा रखा था जो फूलों की लताओं से ढका था, लेकिन प्यासे राजा ने कुआँ ढूँढ़ ही लिया। पानी पीकर तृप्त हुए वे रानी से पूछ बैठे, 'तुम पानी पीओगी?'

वह बोली, 'हाँ।'

और अचानक उसने कुएँ में छलाँग लगा दी। हतप्रभ राजा ने तुरन्त सेवकों को बुलाकर कुएँ में से रानी को निकालने की आज्ञा दी। लेकिन अचरज की बात! कुएँ में रानी थी ही नहीं। राजा ने कुएँ को खाली करने की आज्ञा दी। कुआँ खाली किया गया। तली में एक मेंढक बैठा मिला।

राजा का क्रोध बढ़ गया। उन्होंने हर जगह पर स्थित मेंढकों को मारने की आज्ञा दी। मेंढक पकड़कर लानेवाले को पुरस्कृत भी किया जाता था।

यह देखकर सभी मेंढक चिन्तित और दुखी हो उठे। उन्होंने अपने राजा आयु से प्रार्थना की कि वे इस अत्याचार से उनकी रक्षा करें।

आयु तपस्वी का वेश धारण कर राजा परीक्षित् के पास पहुँचे और उनसे कहा, 'राजन्! मैं मेंढकों का राजा हूँ। आपकी पत्नी मेरी बेटी सुशोभना है। वह ऐसी ही दुष्ट और हठी है। उसने पहले भी कई राजाओं को दुःखी किया है। आप उसे भूल जाएँ और हमपर दया करें।'

परीक्षित् ने कहा कि वे रानी को भूल नहीं सकते। हताश हो आयु ने अपनी बेटी को राजा के सामने उपस्थित किया और भविष्य में अच्छा आचरण करने को कहा।

पर चूँकि वह अपनी ही बेटी से नाराज़ था, अतः उसने उसे श्राप दिया, 'तूने अनेक राजाओं को धोखा दिया है, इसलिए तेरी सन्तानें भी दुख पाएँगी।'

राजा अपनी प्रिय रानी को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

(आरण्यकपर्व से)

दधीच का त्याग

प्राचीन काल में दानवों के कालकेय नामक बड़े समुदाय थे। वे अत्यन्त निर्दयी थे। युद्ध में उन्मत्त होकर लड़ते थे। वे वृत्रासुर नामक भयंकर दानवराज से जा मिले। तत्पश्चात् उन्होंने नाना प्रकार के आयुधों से सुसज्जित होकर देवताओं पर चारों ओर से आक्रमण कर दिया। देवता कड़ा प्रतिकार करते हुए वृत्रासुर का वध करने का प्रयत्न करते रहे। जब उन्हें कुछ भी सफलता न मिली तो वे ब्रह्माजी की शरण में गए।

ब्रह्माजी बोले, 'देवताओ, आप जो कार्य करना चाहते हैं, वह मुझे मालूम है। इसका एक ही उपाय है। ध्यानपूर्वक सुनो। दधीच नामक एक प्रख्यात उदारचित्त महर्षि हैं। तुम सब मिलकर उनके पास जाओ। उनकी आराधना करो। जब वे प्रसन्न हो जाएँ तो एकसाथ एक ही वर माँगो। कहो कि वृत्रासुर के वध के लिए हमें एक वज्र की आवश्यकता है। वह वज्र आपकी अस्थियों से ही बनाया जा सकता है। तीनों लोकों के हित के लिए आप अपनी अस्थियाँ हमें दीजिए। दधीच महान् त्यागी महर्षि हैं। आप लोगों की इच्छा वे अवश्य पूरी करेंगे।'

भगवान् विष्णु को आगे कर सारे देवता दधीच ऋषि के आश्रम की ओर गए। उनका आश्रम सरस्वती नदी के उस पार था। वह आश्रम वृक्षों और लताओं से ढका हुआ था। भौंरों के गीतों की गुंजार सामगान के उद्घोष की भाँति लग रही थी। कोकिलों के कलरव से और विविध प्राणियों के स्वरों से आश्रम बड़ा सजीव लग रहा था। हिरन आश्रम में आराम से विचर रहे थे। जिन हाथियों के गंडस्थल में से मदस्राव हो रहा था, वे आश्रम के सरोवर में जल-क्रीड़ा कर रहे थे। बीच-बीच में सिंह-गर्जना भी सुनाई पड़ रही थी। स्वर्ग-समान सुन्दर इस आश्रम में सारे देवता पधारे।

सूर्य जैसे कान्तिमान और साक्षात् ब्रह्मदेव जैसे दिखाई पड़नेवाले दधीच ऋषि तपस्या में लीन थे। सभी देवताओं ने उनको प्रणाम किया।

इतने लोगों की चहल-पहल से महर्षि का ध्यान टूटा। देवताओं को देखकर उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की और आने का कारण पूछा।

सभी देवताओं ने एकसाथ ब्रह्माजी के सुझाए हुए वाक्य दोहराए।

महर्षि दधीच ने एक पल के लिए आँखें बन्द कीं। फिर प्रसन्न मुद्रा में बोले, 'हे देवताओ, जो तुम्हारे लिए हितकारी है, उसे मैं अभी करता हूँ। मैं इस शरीर का त्याग करता हूँ। तुम मेरी अस्थियों का यथायोग्य उपयोग करो।'

यह कहकर महर्षि पद्मासन में बैठे गए। आँखें नासिकाग्र पर स्थिर कीं और शान्त सहज भाव से शरीर से प्राणों को मुक्त कर दिया। देवताओं ने फिर प्रणाम कर उनकी अस्थियाँ एकत्र कर लीं।

इसके पश्चात् देवता त्वष्टा प्रजापति के पास गए और उन्हें सारी कहानी सुना दी। प्रजापति ने वे अस्थियाँ लेकर प्रयत्नपूर्वक एकाग्रचित्त से महाशक्तिशाली अष्टकोण-वाला वज्र तैयार किया।

इस प्रकार महाशक्तिशाली वज्र को धारण कर बलवान् देवताओं को साथ लेकर इन्द्र वृत्रासुर के सम्मुख उपस्थित हुआ। पृथ्वी और आकाश को व्याप कर कालकेय दानवों से घिरा हुआ वृत्रासुर बड़ा भयंकर दिखाई पड़ रहा था।

देव-दानवों का युद्ध फिर शुरू हुआ जो बड़ा भयानक था। विविध अस्त्र-शस्त्रों की टंकार से आकाश गूँज उठा। ताड़ वृक्ष के फलों की तरह देव-दानवों के मुण्ड इधर-उधर बरस रहे थे। सुवर्ण कवच पहने हुए दानव जब हमला करते थे तो ऐसा लगता था जैसे दावानल उमड़ पड़ा हो। आक्रामक दानवों का वेग देवता सहन नहीं कर सके और इधर-उधर भागने लगे। इन्द्र भी घबरा गया। तभी वृत्रासुर ने भयंकर गर्जना की। उस गर्जना से सारे देवता काँप उठे। वृत्रासुर की भयंकर गर्जना को सुनकर और भागते देवताओं को देखकर इन्द्र क्रोधित तो हुआ पर भय उसपर भी छा गया। उसने सहसा ही उस महान् शक्तिशाली वज्र को वृत्रासुर पर दे मारा और परिणाम देखने की हिम्मत न पाकर भागकर सरोवर में जा छिपा। भयभीत होने के कारण उसे यह विश्वास नहीं हो रहा था कि उसके हाथों वज्र का सही-सही उपयोग हुआ है कि नहीं।

जब अन्य देवताओं ने वृत्रासुर को धराशायी होते देखा तो आनन्द से देवराज इन्द्र की जय बोलने लगे। तब धीरे-से इन्द्र पानी के बाहर आया और देवताओं के आनन्द में शामिल हो गया।

(आरण्यकपर्व से)

सदाचारी सियार

बहुत पहले पुरिका नामक समृद्ध नगरी में हिंसा में ही आनन्द माननेवाला पौरिक नामक एक क्रूर और नराधम राजा रहता था। मृत्यु के बाद अपने कर्मों के कारण राजा को अगले जन्म में सियार का जन्म मिला। अपने पूर्व जन्म की स्मृति के कारण वह अत्यन्त दुःखी हुआ और उसने मांस-भक्षण एकदम बन्द कर दिया। वह हिंसा नहीं करता था। वह सत्य वचन बोलने लगा और कठिन व्रत का पालन करने लगा। वह केवल ज़मीन पर गिरे फल ही खाता। श्मशान उसकी जन्मभूमि थी, अतः वह श्मशान में ही रहने लगा।

उसकी यह पवित्रता दूसरे सियारों से सही न जाती। वे उसकी आस्था को डाँवाडोल करने के लिए प्रयत्न करने लगे। वे उसे समझाते, 'तुम भी मांस खाओ। श्मशान में मत रहो। हमारे जैसे रहो।'

इसपर शान्त भाव से वह सियार बिलकुल तर्कशुद्ध, सौम्य और मधुर शब्दों में उनसे बोला, 'मेरा जन्म किस जाति में हुआ, इसका बिलकुल महत्त्व नहीं। किसी भी प्राणी के स्वभाव और चरित्र से उसके कुल का सहज ही पता चलता है। जिस कार्य को करने से यश बढ़े, वही कार्य करने की मेरी उत्कट इच्छा है। मैं श्मशान में रहकर भी मन की शान्ति कैसे बनाए रखता हूँ, यह तुम सबको बताता हूँ। वस्तुतः हमारा मन ही हमारे कर्मों को प्रेरणा देता है। आश्रम में ही धर्म हो ऐसा नहीं। यदि आश्रम में रहकर कोई किसी की हत्या कर दे तो क्या वह पाप न होगा? और आश्रम में न रहकर भी अगर किसी ने गाय का दान किया तो क्या वह दान नहीं माना जाएगा? तुम सब स्वार्थी और लोभी हो और केवल पेट भरना ही तुम्हारा ध्येय है। ऐसा बर्ताव तुममें दोष-निर्माण करेगा।'

अन्य सियार चकित हो सुनते रहते।

उन्हीं दिनों किसी बाघ ने इस सियार की ख्याति सुनी। उसने सियार को बुलाकर उसका बहुत आदर-सत्कार किया और उसे अपना मन्त्री नियुक्त किया।

बाघ ने कहा, 'हे सौम्य वृत्ति के सियार! तुम्हारे स्वभाव की मुझे परख है। तुम मेरे साथ राजकाज में हिस्सा लो। जो तुम चाहो, उसका उपभोग करो; जो न चाहो, उसका त्याग करो। वैसे हम बाघ बहुत कड़क स्वभाव के होते

हैं, पर मुझसे तुम्हें हितकारक एवं कल्याणकारक वस्तुएँ ही प्राप्त होंगी।'

उस पराक्रमी मृगराज के सामने नतमस्तक हो, विनम्रतापूर्वक सियार ने उत्तर दिया, 'आपने अपनी गरिमा के अनुरूप ही कहा है। राजा को तीव्र परख की विवेकबुद्धि से ही राज्यहित के योग्य मन्त्री का चुनाव करना चाहिए। मुझे लालसा नहीं, आसक्ति नहीं, मुझे सन्तोष ही चाहिए। दूसरी बात यह कि जो आपके पहले के सेवक हैं, उनके साथ मेरा स्वभाव मेल खाएगा, यह भी आवश्यक नहीं। हो सकता है कि वे मुझमें और आपमें दुराव लाने का प्रयत्न करें।

वैसे मैं वन में स्वच्छन्द घूमनेवाला प्राणी हूँ। मैं सेवा-चाकरी करना नहीं जानता। मैं निष्ठुर नहीं हो सकता। दूरदृष्टि रखता हूँ। उच्चाध्येयी हूँ।

यदि आप मुझे मन्त्री बनाना चाहते हैं तो मेरी कुछ शर्तें आपको माननी होंगी। आपके हित में जो मैं कहूँ, उसका महत्त्व-मान बनाए रखें। मेरे स्वामियों को सम्मान मिले। मैं अन्य अधिकारियों के साथ कभी सलाह-मशविरा नहीं करूँगा। मैं किसी भी मन्त्री से एकान्त में ही मिलूँगा। उसे हित की बातें बताऊँगा।'

इस प्रकार की अन्य कई शर्तें सुनकर भी बाघ ने सियार को मन्त्री के पद पर सम्मानपूर्वक बिठाया।

वह अपने काम में अत्यन्त कुशल था, इसलिए उसकी प्रशंसा के यशोगान होने लगे।

अन्य सचिव और अधिकारी ऊपर-ऊपर तो उससे अच्छे सम्बन्ध दर्शाते, पर वास्तव में वे उससे जलते थे। कहाँ तो उन्हें राज्य का धन हड़पने की आदत थी और कहाँ अब कणमात्र भी वहाँ भ्रष्टाचार की स्थिति नहीं थी।

उन्होंने एक चाल चली। मृगराज का अत्यधिक प्रिय मांस सियार के यहाँ पहुँचा दिया। मृगराज खाने बैठा तो उसने इच्छित मांस माँगा। उसे बताया गया कि वह मांस तो किसी ने चुरा लिया है।

राजा ने आज्ञा दी–चोर को खोजा जाए।

तब वे चालाक और स्वार्थी सेवक बोले, 'स्वयं को बहुत समझदार समझनेवाले आपके विद्वान् मन्त्री ने ही वह मांस चुराया है।'

यह सुनकर बाघ को बहुत क्रोध आया और उसने तय किया कि सियार का वध किया जाए। ठीक इसी समय अन्य स्वार्थी सेवक उसके विरोध में राजा के कान भरने लगे। उन्होंने सियार के घर रखा मांस राजा को दिखाया और राजा ने उनपर विश्वास कर लिया।

उसी समय बाघ की माँ वहाँ आयी और राजा से बोली, 'वत्स! कपटपूर्वक

रचे गए इस जाल में तुम मत आना। कुछ लोग दूसरों का उत्कर्ष नहीं देख सकते। यदि कोई मुनि जंगल में रहे तो भी उसे मित्र, शत्रु और निरपेक्ष इस प्रकार के तीन पक्ष मिलते ही हैं।

लोभी मनुष्य चरित्रवान् मनुष्य से ईर्ष्या रखते हैं। मूर्ख विद्वानों से और डरपोक बलवानों से ईर्ष्या करते हैं।

तुम स्वयं विचार करो कि यदि तुम्हारे घर से उसे मांस चुराना ही होता तो पहले कई बार वह मना क्यों करता। वत्स सोचो, आकाश की सतह है या जुगनू अग्नि का नन्हा पुंज है ऐसा लगते हुए भी ऐसा नहीं है। वस्तुतः जो दिखता है वही सच हो, ऐसा नहीं, परीक्षण करके सही-ग़लत का निर्णय लेना चाहिए। सत्पात्र की सत्संगति भाग्य की बात है और किसी अविचारी निर्णय से तुम अपने इस बुद्धिमान् मन्त्री को मत गँवा बैठना।'

किसी धर्मात्मा ने भी वहाँ आकर राजा को सारी सत्य बातें बतायीं। बाघ को अपने विचारों पर लज्जा हुई और उसने सियार को बुलाकर प्रेम से गले लगाया।

सियार अत्यन्त दुःखी था। उसने बाघ को अपना अन्न-जल त्यागने का निश्चय बताया। बाघ आँसू-भरी आँखों से बार-बार उससे क्षमा माँगने लगा। उसका सत्कार किया।

सियार भी पिघल गया और राजा से कहा, 'अब मैं तुम्हारे साथ नहीं रहूँगा। एक बार मेरी अवहेलना और अपमान करने के बाद अब तुम मेरा सच्चा आदर नहीं कर सकोगे। एक बार प्रेम में दरार आने के बाद अब फिर जुड़कर पहले-जैसा प्रेम नहीं हो पाएगा। अन्तःकरण से प्रेम करनेवाले दुर्लभ होते हैं। कभी जिसका हित चाहना, कभी उसी का अहित करना; कभी आदर देना, कभी उसी का अनादर करना—ऐसा व्यवहार तुच्छ बुद्धि-वाले करते हैं।'

इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों से सम्बद्ध सान्त्वनादायक भाषण देकर और बाघ राजा को प्रसन्न कर सियार घने जंगल में चला गया।

मृगराज ने उसे मनाने का बहुत प्रयत्न किया, पर अन्न-जल त्यागकर उस बुद्धिमान् सियार ने स्वर्ग-गमन किया।

(शान्तिपर्व से)

महात्मा च्यवन

महर्षि भृगु का च्यवन नामक महाक्रोधी पुत्र था।

च्यवन ने किसी सरोवर के पास तपश्चर्या शुरू की। परम तेजस्वी च्यवन वीरासन पर बैठे बड़े प्रभावी दिखाई पड़ते थे। एक ही स्थान पर एक ही आसन पर वह दीर्घ काल तक बैठे रहे। बहुत समय बीतने पर दीमकों ने उनके चारों ओर मिट्टी की परत जमा दी। अनेक वृक्ष और लताओं ने उनके चारों ओर आच्छादन कर दिया। भृगुपुत्र च्यवन किसी मिट्टी के ढेर की तरह दिखाई पड़ने लगे। केवल उनकी आँखें खुली रहती थीं, क्योंकि वहाँ दीमक ने सुराख छोड़ दिए थे।

प्रदीर्घ काल बीतने पर राजा शर्याति उस सरोवर के किनारे विहार करने आए। उसकी अनेक रानियाँ थीं परन्तु सन्तान एक ही थी, सुन्दर कन्या, सुकन्या।

सुकन्या दिव्य अलंकारों से विभूषित होकर सखियों के साथ वन में सैर करने लगी। घूमते-घामते वे सब च्यवन ऋषि के स्थान के पास आयीं। वह वृक्ष-लताओं से आच्छादित स्थान सुकन्या को बहुत अच्छा लगा। उसने बहुत सारी पुष्पयुक्त डालियाँ तोड़ीं और उनसे खिलवाड़ करती हुई अकेली ही विचरण करने लगी।

महर्षि च्यवन को वह दृश्य बड़ा लुभावना लगा। वे कौतुक से सुकन्या को देखने लगे।

तभी दीमक के ढेर के बीच चमकनेवाली दो चीज़ों को देखकर सुकन्या को बड़ा अचरज हुआ। कौतूहलवश उसने एक काँटा लेकर चमकीले गड्ढों में चुभो दिया। वहाँ खून आया देखकर वह वहाँ से भाग गयी और किसी को कुछ नहीं बताया।

काँटा चुभने से ऋषि बड़े नाराज़ हुए और उन्होंने अपने तपोबल से राजा के सारे सैनिकों को बीमार कर दिया।

सैनिकों की बीमारी से राजा बड़े परेशान हुए। आसपास पूछताछ करने पर उन्हें पता चला कि यह ऋषि च्यवन का स्थान है। राजा ने सबको बुलाकर कहा, 'पता चला है कि यह परम तेजस्वी और परम क्रोधी ऋषि च्यवन की

तपोभूमि है। तुम लोगों ने जाने-अनजाने उनका अनादर तो नहीं किया?'

सभी ने मना कर दिया। बहुत पूछताछ करने पर सुकन्या ने बताया कि दीमक के ढेर में उसे दो चमकदार चीज़ें दिखाई पड़ी थीं। कौतूहलवश उसने उसमें काँटा चुभो दिया था। फिर खून आया देखकर वह डरकर वहाँ से भाग खड़ी हुई थी।

सैनिकों ने वह स्थान खोज निकाला और वहाँ की सफ़ाई की। राजा अपनी रानियों, सुकन्या और उसकी सखियों के साथ वहाँ पहुँचा। उसने और सबने हाथ जोड़कर महर्षि च्यवन से क्षमा-याचना की।

महर्षि बोले, 'राजन्, तुम्हारी कन्या ने काँटे चुभोकर मुझे अन्धा कर दिया है। अब मुझे सहारे की आवश्यकता है। तुम अपनी कन्या को मुझे ब्याह दो।'

सुकन्या से संकेत पाकर राजा ने उसका विवाह उस जरा-जर्जर अन्धे च्यवन ऋषि से कर दिया।

सुकन्या ने वहीं पर्णकुटी बनायी और अपने अन्धे, वृद्ध पति की सेवा में संलग्न हो गयी।

एक बार वह सरोवर से स्नान करके बाहर आयी ही थी कि अश्विनीकुमारों की उसपर नज़र पड़ी। उन्होंने उस अनन्य सुन्दरी से पूछा कि वह कौन है और इस जंगल में अकेली क्या कर रही है!

सुकन्या ने कहा कि वह राजा शर्याति की पुत्री और महर्षि च्यवन की पत्नी है। पति के साथ वन में पर्णकुटी में रहती है।

अश्विनीकुमार हँसकर बोले, 'हे सुन्दरी, तुम-जैसी परम सुन्दरी को राजा ने इस अन्धे वयोवृद्ध च्यवन के साथ कैसे ब्याह दिया? तुम-जैसी सुन्दर स्त्री तो सारे स्वर्गलोक में कोई नहीं है। ऐसा करो, इस अन्धे बुड्ढे को छोड़कर हममें से एक से विवाह कर लो और परम सुखी जीवन व्यतीत करो।'

सुकन्या बोली, 'देवेश्वरो, मैं अपने पति से पूर्ण सन्तुष्ट और सुखी हूँ। मैं किसी अन्य व्यक्ति का विचार भी नहीं कर सकती।'

इसपर वे बोले, 'सुन्दरी, हम दोनों देवताओं के वैद्य हैं। हम तुम्हारे पति को दृष्टिवान्, जवान और सुन्दर बना देंगे। उसके बाद हम तीनों में से तुम एक को पति-रूप में स्वीकार कर लेना। इस शर्त पर चाहो तो अपने पति को ले आओ।'

सुकन्या महर्षि च्यवन के पास गयी और उन्हें सारी बात कह सुनायी। महर्षि अश्विनीकुमारों की शर्त से सहमत हो गए। सुकन्या उन्हें सरोवर के पास ले आयी और निवेदन किया, 'आप मेरे पति को जवान और रूपसम्पन्न

बनाइए।'

अश्विनीकुमारों ने मन्त्रोच्चार किए और सुकन्या से कहा कि अपने पति को पानी में डुबकी लगाने को कहो। रूप और तारुण्य की इच्छा धरकर ऋषि पानी में उतरे। उसी समय अश्विनीकुमार भी पानी में उतर पड़े। तीनों ने एकसाथ डुबकी लगायी। बाहर आए तो तीनों एकसमान स्वरूपसम्पन्न युवा थे।

बाहर आते ही तीनों एकसाथ बोले, 'हे सुन्दरी, हम तीनों में किसी एक को पति-रूप में स्वीकार करो।'

सुकन्या पहले तो चक्कर में पड़ गयी। फिर मन और बुद्धि से निश्चय कर और देवताओं का स्मरण कर जिसे उसने स्वीकार किया, वह उसका पति च्यवन ही था।

(आरण्यकपर्व से)

मछली का उपकार

कहते हैं कि विवस्वान् सूर्य को एक अत्यन्त प्रतापी पुत्र हुआ जो महान् ऋषि के रूप में पूज्य हुआ। उसमें अपने पिता सूर्य और दादा महर्षि कश्यप के समान ओज, तेज और कान्ति थी और वह अपनी तपस्या के बल पर बहुत आगे गया। लोग उस ऋषि को मनु के नाम से जानने लगे।

मनु ने बद्रिकाश्रम में जाकर दोनों हाथ ऊपर कर एक पाँव पर खड़े होकर दस हज़ार वर्षों तक बहुत-बड़ी तपस्या की। घोर तपस्या के बाद एक दिन वो भीगे वस्त्र पहने, जटा धारण किए चीरिणी नदी के तट पर तपस्या कर रहे थे।

उसी समय एक मछली उनके पास आकर बोली, 'उत्तम व्रतों के पालनकर्ता हे महर्षि! मैं एक छोटी-सी मछली हूँ। अपने से अधिक बलवानों के साथ रहने में मुझे भय लगता है। कृपया, मेरी रक्षा करें। आपके उपकार के बदले में मैं कभी आपका प्रत्युपकार करूँगी।'

मछली की बात सुनकर मनु को अचम्भा हुआ और उसपर दया भी आयी। चन्द्र-किरणों-सी स्वच्छ शरीर-वाली उस मछली को उन्होंने उठाया और अपने कमण्डलु में रख लिया।

मछली धीरे-धीरे बड़ी होने लगी। मनु बहुत प्रेम से उसकी देखभाल करते थे। वे उसे बहुत प्यार करते थे।

कुछ दिनों बाद मछली ने उनसे कहा, 'हे भगवन्! मैं अब इससे बड़ी जगह चाहती हूँ।'

ऋषि ने उसे एक बड़े कुएँ में डाल दिया। कई वर्ष बीत गए। वह और बड़ी हो गयी और सब उसे कुएँ में रहना भी कठिन हो गया क्योंकि वह कुएँ में हिल-डुल भी नहीं पाती थी।

एक दिन वह फिर मनु से बोली, 'हे साधु! हे पिता! मुझे गंगा में या अन्य योग्य स्थान पर ले चलो।'

यह सुनकर जितेन्द्रिय मनु ने स्वयं उसे गंगा में जा छोड़ा।

कुछ समय बीता। एक दिन उस मछली ने मनु से कहा, 'हे प्रभो! मेरा शरीर अब इतना बड़ा हो गया है कि मैं अब गंगा में भी हिल-डुल नहीं पाती।

कृपा करके मुझे जल्दी सागर में पहुँचा दें।'

मनु स्वयं उस मछली को सागर में छोड़ आए।

उस मछली ने हँसकर मनु से कहा, 'भगवन्! आपने विशेष ध्यान रखकर मेरी सब प्रकार से रक्षा की है। अब मुझे आपके लिए कुछ करने का अवसर मिलनेवाला है। शीघ्र ही पूरे संसार में प्रलय-काल उपस्थित होनेवाला है। आप एक मज़बूत नाव बनाएँ। उसमें एक मज़बूत रस्सी रखें। फिर सप्तर्षियों के साथ उसमें बैठें। सब प्रकार के बीजों का संग्रह कर उन्हें अपने पास सुरक्षित रखें। उसी में बैठकर मेरी प्रतीक्षा करिएगा। मैं मस्तक पर सींग धारण कर आऊँगी। अब मैं जाती हूँ। मैं पुनः मिलूँगी, क्योंकि उस अथाह जलराशि में मेरे बिना आप पार नहीं जा पाएँगे।'

मनु ने कहा, 'ठीक है।'

मछली ने जैसा कहा था, वैसा ही हुआ। कुछ समय बाद भयंकर प्रलय हुआ। उस अनन्त जल-सागर में मनु सप्तर्षियों और सुरक्षित बीजों के साथ नाव में बैठ गए। अब उन्हें ऊँचे पर्वत के समान वह मछली दिखी जिसके सिर पर एक सींग था। मनु ने रस्सी को उस सींग से बाँध दिया।

सागर भयानक गर्जन कर रहा था। ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही थीं। नाव कभी इधर डोलती, कभी उधर। सारी धरती जलमग्न हो गई थी।

बहुत दिनों तक उस नाव को खींचते-खींचते अन्ततः मछली ने उसे हिमालय के सर्वोच्च शिखर के पास ला खड़ा किया। मनु ने नाव को शिखर से बाँध दिया। तब से वह शिखर 'नौबन्धन' के नाम से जाना गया।

फिर वह मछली मनु से बोली, 'मैं प्रजापति ब्रह्मदेव हूँ। मैंने ही मत्स्य-रूप धारण कर तुम्हारी रक्षा की है। मनु! तुम्हें अब इस चराचर सृष्टि को पुनः उत्पन्न करना है। तुम्हारे घोर तप के कारण तुम्हें वह प्रतिभा प्राप्त होगी।'

मनु ने उसे प्रणाम किया और फिर तपस्या में लीन हो गए। अनन्तर अपने तपोबल से उन्होंने फिर पहले-सी सृष्टि का निर्माण किया।

(आरण्यकपर्व से)

गुरुदक्षिणा

निषादराज हिरण्यधनु का एक ही पुत्र था एकलव्य। एकलव्य की बाल्यावस्था से ही धनुर्विद्या में बड़ी रुचि थी। यद्यपि उसका हाथ काफ़ी सधा हुआ था तथापि वह व्यवस्थित रूप से इस विद्या की शिक्षा प्राप्त करना चाहता था।

पिता की अनुमति से एकलव्य गुरु द्रोणाचार्य के पास गया और प्रार्थना की, 'मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर लीजिए।'

गुरु ने उसकी पूछताछ की और कहा, 'मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, किन्तु मेरी नियुक्ति राजपरिवार के बच्चों को शिक्षा देने के लिए हुई है, इसलिए मैं बाहर के बच्चों को शिक्षा नहीं दे सकता।'

गुरु के इस इनकार पर एकलव्य इतना दुखी हुआ कि वापस घर नहीं आया। वह एक वन में चला गया। उसने दृढ़ निश्चय किया कि वह धनुर्वेद की विद्या ज़रूर हासिल करके रहेगा। उसने वन में अपने लिए एक कुटिया बनायी और वहीं बाहर निशाने लगाने का अभ्यास करने लगा। तब उसे किसी का कहा याद आया कि गुरु के बिना विद्या नहीं मिल सकती। अब और गुरु कहाँ से लाऊँ, यह सोचकर उसने एक चबूतरे पर मिट्टी की एक प्रतिमा बनायी। फिर हाथ जोड़कर वह बोला, 'आप ही मेरे गुरु हैं, गुरु द्रोणाचार्य! आपसे ही अब मैं शिक्षा ग्रहण करूँगा।'

प्रतिदिन उस मूर्ति के आगे सिर नवाकर वह अभ्यास शुरू करता। जहाँ कुछ शंका उत्पन्न होती वह मूर्ति के आगे हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता और अपनी शंका बतलाता। वह हाथ जोड़े खड़ा रहता और मन-ही-मन गुरु से अपनी शंका के विषय में प्रश्नोत्तर करता रहता। विचार-मन्थन से जो भी समाधान उसकी समझ में आता। उसे गुरु की शिक्षा समझकर वह उसपर अमल करने लगता।

कठोर परिश्रम और आत्मचिन्तन ने उसे धीरे-धीरे सफलता का रास्ता दिखा दिया। अपने तीर-कमान वह स्वयं ही बनाता था। अनुभव ने उसे तरह-तरह के बाणाग्र बनाना सिखा दिया। वह लक्ष्यभेदी बाण चलाना तो सीख ही गया, बाणों को एक-दूसरे के पीछे दौड़ाना, बाणों को चक्राकार घुमाना, आगे जानेवाले बाणों को पीछे की ओर मोड़ना इत्यादि कार्यों में भी वह सिद्धहस्त

हो गया। बाणों की गति पर वह पूर्ण नियन्त्रण करना सीख गया।

अनेक वर्ष बीत गए। बालक एकलव्य बड़ा हो गया। दाढ़ी-मूँछ से उसका चेहरा भर गया। सिर के लम्बे बाल जटाओं के रूप में पीछे की ओर लटकने लगे। तन ढकने के लिए केवल एक मृगचर्म की ही वह व्यवस्था कर पाया था। वह कन्दमूल, फल खाकर गुज़ारा करता। सारा समय और सारी शक्ति उसने धनुर्विद्या के लिए समर्पित कर दी थी।

एक दिन उस वन में कुछ लोग शिकार खेलने आए। उन लोगों के साथ एक कुत्ता भी था। कुत्ता कुछ आगे दौड़ा आया और एकलव्य को देखकर ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा। उसका मुँह बन्द करने के उद्देश्य से एकलव्य ने कुछ बाण इस तरह चलाए कि बाणाग्र मुँह के बाहर रहे। पाँच-छः बाणों से उसका मुँह तो बन्द हो गया, लेकिन उसे किसी तरह की हानि नहीं पहुँची।

अजीब अनुभव से कुत्ता मिमियाता हुआ दुम दबाकर अपने मालिकों के पास जा पहुँचा। सब लोग बाणों की इस विचित्र प्रवीणता पर आश्चर्यचकित रह गए। वे जब आगे गए तो उन्हें मृगचर्म लपेटे जंगली जैसा एक युवक दिखाई पड़ा जो व्यवहार में बड़ा शालीन था। उसने अपना नाम एकलव्य बताया और यह भी बताया कि उसने धनुर्विद्या गुरु द्रोणाचार्य से प्राप्त की है। उसने धनुर्विद्या के तरह-तरह के करतब उन्हें दिखाए। आनेवालों ने उसे नहीं बताया कि वे हस्तिनापुर के राजकुमार हैं और गुरु द्रोणाचार्य के ही शिष्य हैं। सभी राजकुमार एकलव्य की प्रशंसा करते हुए लौट गए।

शाम को एकान्त पाकर अर्जुन गुरुजी के पास गया और उन्हें सारी घटना विस्तार से सुनायी। धनुर्विद्या के करतबों का बड़ी बारीकी से वर्णन किया। फिर रुआँसा होकर बोला, 'गुरुजी, एकलव्य के पास जो सिद्धि है, उससे आधी सिद्धि भी मेरे पास नहीं है। आप तो हमेशा कहते रहे हैं कि मैं आपका सर्वश्रेष्ठ शिष्य हूँ। आपने तो एकलव्य को मुझसे बहुत अधिक शिक्षा दी है।'

गुरुजी ने उसे समझाया कि वे स्वयं एकलव्य के पास जाकर सारी जानकारी लेंगे।

कुछ समय पश्चात् सारे राजकुमार गुरु द्रोणाचार्य के साथ उस वन में गए। गुरु को स्वयं आया देखकर एकलव्य ने साष्टांग प्रणाम किया। फिर गुरु के लिए उसने अपनी धनुर्विद्या के सहारे फल-फूल और जल ला दिया।

गुरु ने पहले तो उसकी प्रशंसा की, फिर उन्होंने पूछा, 'किस गुरु ने तुम्हें यह सब शिक्षा दी है।'

एकलव्य उन्हें मिट्टी की मूर्ति के पास ले गया। एकलव्य ने बतलाया कि

यह गुरु द्रोणाचार्य की प्रतिमा है और इसी ने उसे धनुर्विद्या की शिक्षा दी है।

बड़ा कठोर चेहरा करते हुए गुरु द्रोणाचार्य ने कहा, 'एकलव्य, तुमने गुरु द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त की है। अब तुम्हें उन्हें गुरुदक्षिणा देनी चाहिए।'

एकलव्य बड़े विनम्र भाव से बोला, 'हाँ, गुरुजी! बतलाइए, गुरुदक्षिणा में क्या दूँ?'

गुरु द्रोणाचार्य ने कहा, 'एकलव्य, मुझे तुम्हारे दाहिने हाथ का अँगूठा चाहिए।'

सभी उपस्थित लोग यह सुनकर सन्न रह गए, किन्तु एकलव्य ने एक क्षण भी नहीं लिया। एक बाण के तीक्ष्ण अग्र भाग से उसने दाहिने हाथ का अँगूठा काटा और गुरु के चरणों पर अर्पित कर दिया।

(आदिपर्व से)

चतुर सियार

एक चालाक सियार शेर, चूहा, भेड़िया और नेवला—ऐसे चार मित्रों के साथ वन में रहता था। इन पाँच साथियों को एक बार बड़ा हिरन दिखलाई पड़ा। वह इतना फुर्तीला था कि ये पाँचों कई बार कोशिश करके भी उसे घेर न सके। तब उन्होंने आपस में विचार-विमर्श करके एक तरकीब लगाने की सोची।

चालाक सियार ने शेर से कहा, 'अरे भाई शेर, इस हिरन को मारने का तुमने कई बार प्रयत्न किया। यह हिरन एकदम जवान तो है ही, बड़ा फुर्तीला और चालाक भी है। इसे पकड़ना बड़ा कठिन दिखलाई पड़ रहा है। इसलिए मैं एक तरकीब सुझाता हूँ। जब यह सो जाए तो चूहा इसके पैर कुतर डाले। उसके बाद उसकी दौड़ने की शक्ति कुछ कम हो जाए तो शेर इसपर झपट पड़े। जब वह मर जाए तो हम सब मिलकर उसे खा लें।'

सियार की इस तरकीब के सुझाने के बाद पाँचों दोस्त सावधान हो गए। जब हिरन सो रहा था तो चूहा धीरे-से उसके पैर कुतर आया। तत्काल शेर झपट पड़ा और हिरन को मार गिराया।

हिरन के धराशायी होते ही सियार बोला, 'बधाई हो दोस्तो! आज तो जश्न हो जाए। ऐसा करो, तुम सब नदी में नहाकर आ जाओ। तब मैं हिरन की रखवाली करता हुआ यहीं बैठा हूँ।'

सियार की सलाह पर सारे नदी पर नहाने गए। सियार वहीं बैठा हुआ चिन्ता करने का नाटक करने लगा।

सबसे पहले शेर लौटा। चिन्ताग्रस्त सियार से बोला, 'तुम तो हम सबसे बुद्धिमान् हो। फिर चिन्ता किस बात की? आज हम पेट-भर माँस खाकर जश्न मनाएँगे।'

सियार बोला, 'अरे शक्तिमान शेर! वह इतना-सा चूहा क्या बोलता है, सुनो। वह कहता है सच देखा जाए तो हिरन को मैंने मारा है। मेरे बाहुबल के सहारे आज शेर खुश हो रहा है। धिक्कार हो ऐसे मृगराज के पराक्रम को। चूहा इस तरह गुर्रा रहा है, इसलिए मुझे इस भक्ष्य से अरुचि हो गई है।'

शेर बोला, 'वह चूहा इस तरह गुर्राता है क्या? बड़ा अच्छा किया कि तुमने मुझे समय से चेता दिया। ठीक है, अब मैं अपनी हिम्मत पर ही शिकार

करूँगा और अकेला ही खाऊँगा।'

इसके बाद शेर जंगल में चला गया।

उसी समय चूहा वहाँ आ पहुँचा। उसे देखते ही सियार बोला, 'चूहे भाई, तुम्हारा भला हो। वह नेवला क्या कहता है, सुना? वह कहता है, हिरन का माँस मैं कभी नहीं खाता। वह विष के समान होता है। उसकी बजाय मैं ज़िन्दा चूहा ज्यादा पसन्द करूँगा। तुम खाली इजाज़त दे दो।'

यह सुनते ही चूहा घबरा गया और बिल में जा छिपा।

तभी भेड़िया नहा-धोकर आ पहुँचा। सियार उससे बोला, 'मेरे दोस्त, आज तुम्हारी खैर नहीं है। जंगल का राजा क्रोधित हो गया है और अपनी पत्नी के साथ इधर आ रहा है। देखो भाई, जो कुछ करना हो सोच-समझकर करो।'

सियार ने यह सब इतने नाटकीय ढंग से कहा कि मांसचटोर भेड़िया बहुत घबरा गया। किसी को पता चलने के पहले ही वह गुपचुप वहाँ से खिसक गया।

अब पहुँचा नेवला। सियार नेवले से बोला, 'अरे नेवले, अपनी अकेले की ताकत से मैंने उन तीनों के होश ठिकाने लगा दिए हैं। वे सब दुम दबाकर भाग खड़े हुए हैं। अब तुम इस मांस को खाना चाहते तो पहले मुझसे दो-दो हाथ करो।'

नेवला बोला, 'बड़े भाई! शेर, भेड़िया और चतुर चूहे जैसे वीरों को तुमने मार भगाया है। साफ़ है, तुम इन तीनों से ताकतवर हो। तुमसे लड़ने की शक्ति मुझमें नहीं है।'

यह कहकर नेवला भी जंगल में खिसक गया।

इस प्रकार उन चारों के चले जाने के बाद सियार की खुशी का ठिकाना नहीं था। उसने आराम से सारा मांस चट कर डाला।

(आदिपर्व से)

जनमेजय का नागयज्ञ

अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित् एक बार शिकार खेलने के लिए वन में गया। वहाँ एक घायल मृग का पीछा करते हुए वह भूखा-प्यासा थका-हारा एक आश्रम में पहुँचा। वहाँ राजा ने ऋषि से घायल हिरन के विषय में पूछा। ऋषि मौन व्रत में थे, इसलिए उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। ऋषि का ऐसा व्यवहार देखकर राजा को बड़ा क्रोध आया। अब क्या किया जाए, यह वह सोच ही रहा था कि उसे एक मरा हुआ साँप दिखाई पड़ा। राजा ने धनुष के सिरे से मरा हुआ साँप उठाया और ऋषि के गले में डाल दिया। उसके बाद मृग की खोज में राजा वहाँ से चला गया।

राजा की इस हरकत को एक बच्चा देख रहा था। उसने यह बात ऋषिपुत्र शृंगी को बता दी। शृंगी ने क्रोधित होकर राजा परीक्षित् को श्राप दिया कि वह सात दिन के अन्दर नागराज तक्षक के डसने से मारा जाएगा।

ऋषि को जब श्राप की बात पता चली तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने तत्काल अपने एक शिष्य को राजा को सूचना देने के लिए भेजा।

श्राप की सूचना मिलते ही राजा ने अपने मन्त्री को विचार-विमर्श के लिए बुलवाया। उन्होंने एक चिकने खम्भे पर एक सुरक्षित महल बनवाया। खम्भे के चारों ओर सुरक्षा की व्यवस्था की गयी। महल में कुशल चिकित्सकों और प्रभावी ओषधियों की योजना की गयी। सुरक्षा की ऐसी भारी-भरकम तैयारी करने के बाद राजा उस महल में चला गया और वहीं से राजकाज का काम देखने लगा।

इधर नागराज तक्षक एक छोटे-से कीड़े का रूप धारण कर एक फल में घुस गया। तक्षक के सेवक तापसियों का वेष धारण कर अन्य फलों के साथ उस फल को राजा को भेंट कर आए।

राजा जब उन फलों को खाने लगा तो तक्षक बाहर आ गया और अपने असली रूप में आकर राजा को डस गया। राजा परीक्षित् की तत्काल मृत्यु हो गयी।

राजा परीक्षित् की अन्त्येष्टि के बाद उसके पुत्र जनमेजय को गद्दी पर बिठाया गया।

बहुत समय बाद जब जनमेजय बड़ा हुआ तो उसे अपने पिता की दुःखद मृत्यु की जानकारी हुई। जनमेजय को बड़ा दुःख हुआ और साथ ही नागराज तक्षक पर बड़ा क्रोध आया। उसने निश्चय किया कि वह तक्षक का पूरे वंश के साथ नाश कर देगा।

राजा जनमेजय की आज्ञा से एक नागयज्ञ का आयोजन किया गया। यज्ञ के लिए विविध प्रकार की सामग्री एकत्र की गयी। विशाल यज्ञ-मण्डप बनवाया गया। दूर-दूर से यज्ञ करानेवाले द्विजगणों को बुलाया गया।

शुभ मुहूर्त पर यज्ञ आरम्भ हुआ। यज्ञ-कुण्ड की लपटें आकाश चूमने लगीं। मन्त्रों के घोष से वातावरण गूँज उठा। जिस-जिस नाग के नाम पर आहुति डाली जाती थी, वह कहीं भी छिपा हो—चाहे जितनी दूर हो—मन्त्रों की शक्ति से खिंचा चला आता था और यज्ञ-कुण्ड में जा गिरता था। जलते मांस की दुर्गन्ध से एक बार वातावरण भयानक हो जाता था। फिर द्विजगण घी इत्यादि पदार्थ अग्नि को अर्पित करते। थोड़ी देर बाद शक्तिशाली मन्त्रों के साथ दूसरे किसी नाग को आमन्त्रित किया जाता। और फिर घिसटता-लुढ़कता वह नाग भी हताश हो यज्ञ-कुण्ड में चढ़ जाता।

सारे नागों में भयानक आतंक फैल गया। बड़े-बड़े विषधर भी मामूली कीटकों की तरह इधर-उधर छिपने लगे। नागराज तक्षक लुकता-छिपता कई देवताओं से शरण माँगता हुआ अन्ततः देवराज इन्द्र के पास गया। बड़े अनुनय-विनय के बाद देवराज ने उसे शरण दे दी और उसे अपने उत्तरीय में छिपा दिया।

यज्ञ चल रहा था। एक-एक करके सैकड़ों नाग भस्म हो गए। अब नागराज तक्षक की बारी थी। द्विजगणों ने ज़ोर-ज़ोर से शक्तिशाली मन्त्रों का उच्चार किया और अग्नि में आहुति डालते हुए घोष किया—तक्षकाय स्वाहा।

लेकिन क्या आश्चर्य, तक्षक नहीं आया।

दोबारा मन्त्रों का उच्चार किया गया और फिर घोष हुआ—तक्षकाय स्वाहा।

तक्षक फिर भी नहीं आया।

राजा जनमेजय को बड़ा क्रोध आया। द्विजगणों ने ध्यान लगाकर देखा तो उन्हें पता चला कि तक्षक को देवराज इन्द्र ने छिपा रखा है। उन्होंने यह बात राजा जनमेजय को बतलायी।

राजा ने क्रोध में आज्ञा दी कि अगर तक्षक को देवराज इन्द्र ने छिपा रखा हो तो तक्षक के साथ इन्द्र को भी यज्ञ-कुण्ड में ढकेल दिया जाए।

ऊँचे स्वर में मन्त्रों का घोष किया गया—तक्षकाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा।

मन्त्रों के बल पर इन्द्र अपने सिंहासन और तक्षक के साथ खिंचे चले आए। जब सिंहासन यज्ञ-कुण्ड की ओर गिरने लगा तो इन्द्र घबरा गए और तक्षक को वहीं छोड़कर भाग खड़े हुए।

ग़लत व्यक्ति का साथ देने पर परम बलशाली व्यक्ति भी संकट में पड़ जाता है।

(आदिपर्व से)

ऋषि और चिड़िया

एक महातपस्वी, महाज्ञानी ऋषि थे। उनका नाम जाजलि था। वे एकाकी वन में रहते थे। स्वाध्याय करते, जप-तप, सन्ध्या, मनन, अर्चन करते और कठिन साधनाओं में लीन रहते।

एक बार वे तपस्या कर रहे थे। ध्यानमग्न बैठे थे। ज़रा भी हिले-डुले बिना वे कई दिनों, कई महीनों तक बैठे रहे। यहाँ तक कि उनकी देह सूखी लकड़ी की भाँति कड़ी हो गयी। उनकी जटाएँ मिट्टी से भर गयीं। वे इतने निश्चेष्ट हो गए थे कि पक्षियों को भी यह आभास न होता कि यह जीवित हैं। उनके आसपास वे उड़ते-विचरते। यहाँ तक कि एक चिड़ा और चिड़िया ने उनकी जटाओं में घोंसला बना लिया।

वे तिनके ला-लाकर जमा करते। बार-बार उनका उड़कर जाना, तिनके लाकर जमा करना, ऋषि जान रहे थे। उन्हें लगा कि चिड़ियों को घोंसला बनाने देकर वे उनपर एहसान कर रहे हैं।

कुछ समय बाद चिड़िया ने घोंसले में अण्डे दिए। अण्डे फूटे और उनमें से छोटे-छोटे बच्चे निकले। बच्चों की चीं-चीं ऋषि अनुभव कर रहे थे। मगर वे हिले-डुले बिना ही बैठे रहे।

कुछ और समय बीता। पक्षी-शावक उड़ना सीखने लगे। कुछ दूर तक फुदकते, लौट आते। अपने सिर पर उनका आना-जाना ऋषि अनुभूत करते रहते।

चिड़ा और चिड़िया उनके लिए दाना लाते। सब मिल-जुलकर चहचहाते। कभी-कभी वे सब इधर-उधर उड़ जाते, शाम ढले लौट आते। कभी-कभी एकाध दिन के लिए ही चले जाते। ऋषि उनकी प्रतीक्षा करते। वे पक्षी लौट आते।

अनेक महीनों तक यही क्रम चलता रहा। फिर एक बार उड़कर गए तो पक्षी लौटकर आए ही नहीं। ऋषि प्रतीक्षा करते रहे, पर वे तो अब जा चुके थे।

ऋषि अपने स्थान से उठे। नदी-तट पर जाकर स्नान किया। उन्हें मन-ही-मन लगा कि उन्होंने पक्षियों का कितना उपकार किया है।

अहंकार का भाव मन में उपजा ही था कि ऋषि को एक आकाशवाणी सुनाई दी।

'हे ऋषि! धर्मसाधना में तुम कभी भी तुलाधार से श्रेष्ठ नहीं हो सकते। वह एक व्यापारी है जो वाराणसी में रहता है। तुम उससे मिलो।'

अपनी अवमानना से ऋषि को क्रोध तो आया, पर वे अनेक कष्ट सहते हुए तुलाधार के पास पहुँचे।

उन्हें देखते ही तुलाधार सब समझ गया। उसने उन्हें तत्त्वज्ञान समझाया। सनातन धर्म का बोध कराया और अहिंसा परम धर्म की श्रेष्ठता समझायी। उन्होंने जाजलि ऋषि से उन पक्षियों को बुलाने को कहा। उन पक्षियों ने ऋषि को श्रद्धा का महत्त्व बतलाया।

इस प्रकार ऋषि को मानसिक शान्ति प्राप्त हुई और उन्हें अपने मिथ्या अहंकार पर ग्लानि हुई।

(शान्तिपर्व से)

नन्दिनी का रौद्र रूप

राजा विश्वामित्र का सैन्य बड़ा प्रबल था। उनके पास बहुत घोड़े थे। अपने मन्त्रियों के साथ राजा विश्वामित्र घने जंगलों में शिकार खेला करते थे।

एक बार एक विरल वन में हिरनों और सुअरों का पीछा करते हुए वे थक गए। फिर भी हिरनों का पीछा करना नहीं छोड़ा। प्यास से अत्यन्त परेशान वे एक आश्रम के पास पहुँचे। यहाँ वसिष्ठ ऋषि का निवास था। ऋषि ने राजा विश्वामित्र का स्वागत किया। उन्हें पैर धोने के लिए पानी दिया। बैठने को आसन दिया। पीने के लिए पानी दिया। जो भी कन्दमूल फल उपलब्ध थे, उन्हें राजा की सेवा में रख दिया। ऋषि वसिष्ठ के पास नन्दिनी नामक कामधेनु थी। कामधेनु से जो भी माँगा जाए, वह सब ऋषि को देती थी। सब प्रकार के धान्य, विविध प्रकार के फल, दूध, तरह-तरह के भोज्य पदार्थ, विविध रत्न, वस्त्र इत्यादि ऋषि को कामधेनु से प्राप्त होते थे। इस प्रकार की समृद्ध सामग्री से राजा विश्वामित्र का आदर-सत्कार किया गया।

इस अतिथि-सत्कार से राजा विश्वामित्र तो सन्तुष्ट हुए ही, उनके मन्त्री और सैनिक भी परम सन्तुष्ट नज़र आए। उसी समय विश्वामित्र को कामधेनु दिखाई पड़ी। इतनी सुन्दर, इतनी पुष्ट, इतनी शोभायमान गाय राजा ने कभी नहीं देखी थी। वह आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने गाय की बड़ी प्रशंसा की। वह आगे बोले, 'ऋषिवर, मैं एक करोड़ गायें आपको देने को तैयार हूँ। चाहे तो मेरा राज्य भी ले लीजिए, इस नन्दिनी को मुझे दे दीजिए और मेरे राज्य का उपभोग करिए।'

वसिष्ठ बोले, 'राजन्, नन्दिनी की जो अपने प्रशंसा की, वह बड़ी सार्थक है। देवता, अतिथि और पशु-पक्षियों की सेवा के लिए, आश्रम की व्यवस्था के लिए और यज्ञ-यागादि के लिए मैं नन्दिनी का त्याग नहीं कर सकता। अपना पूरा राज्य दें तो भी मैं नन्दिनी को नहीं दे सकता।'

राजा बोला, 'ऋषिवर, मत भूलिए कि मैं क्षत्रिय हूँ। यदि आप सीधी तरह से यह कामधेनु मुझे नहीं देंगे तो मैं बलपूर्वक उसे ले जाऊँगा।'

ऋषि बोले, 'राजा, आप क्षत्रिय हैं, बलशाली हैं। मुझे पता है, आप जो चाहें सो कर सकते हैं। मगर मैं अपनी इच्छा से कामधेनु आपके हवाले नहीं

कर सकता।'

ऋषि का यह उत्तर सुनकर विश्वामित्र का माथा ठनका। उन्होंने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि कामधेनु को बलपूर्वक ले जाया जाए।

सैनिक चारों ओर खड़े हो गए। राजा आगे बढ़े और नन्दिनी के गले में रस्सी डालकर उसे आश्रम के बाहर खींचने लगे। नन्दिनी अपनी जगह से टस-से-मस न हुई। तब सैनिक उसे पीछे से धकेलने लगे। इसपर भी जब कुछ न हुआ तो राजा ने डण्डे से उसे मारना शुरू कर दिया। डण्डों की मार से नन्दिनी के पुट्ठों पर रक्त की रेखाएँ बन गयीं। उसके बाद सैनिक भी चारों ओर से गाय को पीटने लगे। बड़ा करुण दृश्य था। गाय ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही थी। ऋषि की आँखों से आँसू बहने लगे। एकाएक गाय रस्सी छुड़ाकर ऋषि के पास भाग खड़ी हुई। ऐसा लगा कि मानो गाय ऋषि को शिकायत कर रही थी और सहायता माँग रही थी। ऋषि गाय के पैरों में पड़ गए। उन्होंने रोते हुए कहा, 'माँ, मैं तुम्हें कहीं भेज नहीं रहा हूँ। मैं तो यही चाहता हूँ कि तुम यहीं बनी रहो। मगर देख रही हो कि आततायियों के सामने मैं कुछ नहीं कर सकता। माँ, अब तुम्हीं कोई उपाय खोजो।'

ऋषि के इन वचनों को सुनकर गाय पलटी। उसने राजा की ओर मुँह किया। फिर एकाएक रौद्र रूप धारण कर लिया। उसने पूँछ उठा ली। सिर नीचे कर सींग राजा की ओर किए। आँखें अंगारों-जैसी लाल हो गयीं। वह अगले एक पैर से मिट्टी खोदने लगी और नथुनों से तेज़ गर्म हवा बाहर फेंकने लगी। उसके इस रूप से सभी चकित हो गए। राजा विश्वामित्र फिर भी डण्डा लेकर आगे बढ़े। मगर वे डण्डा मारें इसके पहले गाय के विविध अंगों से तरह-तरह के सैनिक प्रकट होने लगे। उनके विविध प्रकार के वेष थे और तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्र उनके हाथों में थे। हज़ारों सैनिक प्रकट हो गए। उन्होंने राजा, उसके मन्त्रियों और प्रत्येक सैनिक को घेर लिया। राजा और उनके सैनिकों को कामधेनु के इन सैनिकों ने आश्रम से बाहर तो ढकेला ही, वन से बाहर भी कर दिया। तत्पश्चात् वे वन और आश्रम की रक्षा के लिए चारों ओर खड़े हो गए। अन्ततः राजा की सेना भाग खड़ी हुई।

राजा विश्वामित्र मान गए कि शस्त्रतेज से ब्रह्मतेज अधिक सामर्थ्यवान् होता है।

(आदिपर्व से)

आरुणि की लगन

प्राचीन काल में शिष्य गुरु के घर या उनके आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। वहाँ शिक्षा के साथ-साथ उन्हें आश्रम के कुछ काम भी दिए जाते थे। इस तरह तात्त्विक शिक्षा के साथ प्रात्यक्षिक ज्ञान की भी प्राप्ति हो जाती थी।

धौम्य ऋषि का आरुणि नामक एक शिष्य था। वह पांचाल का रहनेवाला था और बड़ा मेहनती लड़का था। गुरु के बतलाए पाठ को वह ध्यानपूर्वक याद करता था। साथ ही आश्रम की सेवा का कोई अवसर हो, वह चूकता न था।

एक बार ऋषि को यह दिखलाई पड़ा कि बाहर से बहकर आनेवाला बहुत-सा पानी आश्रम के एक खेत में घुस रहा है और जलमग्न खेत की सारी फ़सल नष्ट होने का संकट पैदा हो गया है। ऋषि ने आरुणि को बुलाकर यह समस्या बतलायी और पानी रोकने का कोई उपाय करने को कहा।

आरुणि तत्काल खेत पर पहुँचा। उसने देखा कि खेत की ज़मीन कुछ नीची है और एक ओर से पानी खेत में घुस रहा है। आरुणि ने फ़ौरन काफ़ी मिट्टी उस स्थान पर डाली और पैरों से उसे दबा दिया।

थोड़ी देर तो पानी रुका रहा, मगर धीरे-धीरे मिट्टी बह गयी और पुनः पानी खेत में घुसने लगा। आरुणि ने दोबारा बहुत-सी मिट्टी वहाँ डाली और नाच-नाचकर मिट्टी को अच्छी तरह दबा दिया। उसे लगा कि अब पानी रुक जाएगा, मगर कुछ क्षणों के बाद पानी ने मिट्टी को हटा दिया।

आरुणि ने सोचा, मिट्टी मुलायम होती है इसलिए बह जाती है। उसने काफ़ी सारे कंकण-पत्थर इकट्ठे किए और पानी की धारा में दबा दिए। बड़ी देर तक वह इस काम में लगा रहा। उसे आशा थी कि अब पानी सचमुच रुक जाएगा।

पानी बहना बन्द हो गया। आरुणि आनन्दित हो गया। थोड़ा सुस्ताने के लिए वह लेट गया। जब उठा तो देखा, पानी पूर्ववत् बहने लगा है।

उसे बड़ी निराशा हुई। घण्टों की मेहनत व्यर्थ साबित हुई थी।

वह सोचने लगा कि अब क्या किया जाए। घूम-घूमकर वह पानी का

मुआयना करने लगा। कोई नया तरीका खोजने के लिए वह इधर-उधर भटकने लगा। दूर खड़े पेड़ों पर नज़र जाते ही उसके दिमाग़ में एक योजना आयी। क्यों न पेड़ों की टहनियाँ पानी के रास्ते में फँसा दी जाएँ। इस तरह शायद काम बन जाए।

वह पेड़ पर चढ़ा। मज़बूत टहनियाँ तोड़-तोड़कर नीचे फेंकने लगा। बड़ी मेहनत से उसने बहुत सारी लकड़ियाँ तोड़ दीं। फिर कई चक्कर लगाकर उसने वे टहनियाँ पानी के रास्ते में अच्छी तरह जमा दीं। उसके बाद काफ़ी सारी मिट्टी उनके बीच में डाल दी।

लकड़ियों के बीच मिट्टी अच्छी तरह जम गयी। अपने पैरों से दबा-दबाकर उसने मिट्टी की सतह पक्की कर दी। उसके आनन्द का पारावार न रहा, जब उसने देखा कि आनेवाले पानी ने रास्ता बदल लिया है। पानी अब खेत से दूर जाने लगा।

थोड़ी देर आराम करने के बाद आरुणि एक साफ़-सुथरी जगह पर बैठ गया और पहले पढ़ाए हुए पाठों को दोहराने लगा। कण्ठस्थ श्लोकों को एक बार फिर गाया। पढ़ाई पूरी करने के बाद उसने साथ ले जाने के लिए कुछ कन्दमूल, फल इकट्ठे किए।

चलते-चलते एक नज़र फिर पानी के बहाव पर मारने का विचार कर आरुणि खेत के पास गया। उसे यह देखकर घोर निराशा हुई कि पानी ने टहनियों के बीच फिर रास्ता बना लिया था।

कन्दमूल, फल एक ओर रखकर आरुणि पानी के वेग को फिर जाँचने के लिए आगे बढ़ा। वह पानी की धारा में उतर गया और अपने हाथों और पैरों से पानी रोकने लगा। बहुत देर तक ऐसा करने पर उसने देखा कि पानी का आना कम हो गया है। फिर भी कुछ पानी इधर-उधर से आगे बढ़ जाता था।

पानी की रोक को बढ़ाने के उद्देश्य से आरुणि वहीं पानी में जमकर बैठ गया। उसने देखा, पानी काफ़ी रुक गया है। बहुत देर तक वह निरीक्षण करता रहा। उसे विश्वास हो गया कि यह तरीका बहुत-कुछ ठीक है। अब पानी उसके दोनों ओर से बहुत क्षीण मात्रा में खेत में जा रहा था। वह थोड़ी मात्रा में जानेवाला पानी भी अनर्थ ढा सकता है। इसे भी रोकना ही होगा। यह निश्चय कर आरुणि पानी रोकने के लिए स्वयं वहाँ लेट गया और हाथ ऊपर की ओर फैला दिए। उसने मुँह खेत की ओर कर लिया।

काफ़ी देर बाद उसने देखा कि पानी बिलकुल रुक गया है। उसे बड़ा

कष्ट हो रहा था, मगर खुशी इस बात की थी कि आश्रम का खेत बच गया था और गुरु की आज्ञा का पालन हो गया था।

शाम को जब आरुणि आश्रम नहीं पहुँचा तो ऋषि और आश्रम के अन्य लोगों को बड़ी चिन्ता हो गयी। वे सब उसे खोजने निकल पड़े। अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। आखिर ऋषि ने ज़ोर-ज़ोर से 'आरुणि', 'आरुणि' ऐसी आवाज़ें लगाना शुरू किया। थोड़ी देर में उन्हें क्षीण स्वर में उत्तर मिला, 'गुरुजी, मैं यहाँ हूँ।'

खोजते-खोजते सब लोग वहाँ जा पहुँचे, जहाँ आरुणि लेटा हुआ था। ऋषि ने बड़े आश्चर्य से पूछा, 'आरुणि, तुम यहाँ क्यों लेटे हो?'

आरुणि बोला, 'गुरुजी! मैंने पानी रोकने के लिए कई उपाय किए, मगर पानी नहीं रुका। आखिर मैं स्वयं यहाँ लेट गया, तब पानी रुका।'

ऋषि ने आनन्द-विभोर होकर आरुणि को गले लगा लिया और अपने साथ आश्रम में ले गए। उन्होंने अन्य शिष्यों को कहा कि फावड़े इत्यादि ले जाओ और खेत में जमा हो रहे पानी की निकासी के लिए एक गहरी नाली खोद दो।

(आदिपर्व से)

लम्बी गर्दन-वाला ऊँट

प्राचीन समय की बात है। एक बहुत-बड़ा ऊँट था। उसे अपने पुण्यशील पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। कठोर व्रत का पालन करते हुए उसने घोर तपश्चर्या की। उसकी तपश्चर्या पूर्ण होते ही सर्वश्रेष्ठ प्रभु पितामह प्रजापति प्रसन्न हो गए। उन्होंने ऊँट से वर माँगने को कहा।

ऊँट बोला, 'भगवन्, वैसे तो मेरी गर्दन लम्बी है। पर चरने के लिए मुझे बहुत चलना पड़ता है। यदि मेरी गर्दन काफ़ी लम्बी हो जाए तो मैं आराम से एक जगह पर बैठा हुआ चर सकूँगा।'

प्रजापति हँसकर बोले, 'तथास्तु। तुम्हारी गर्दन एक योजन लम्बी हो जाए।'

ऊँट अपनी अत्यन्त लम्बी गर्दन लेकर अपने वन में लौट आया। वह आराम से बैठ गया। उसने सोचा, जब भूख लगेगी तो गर्दन बढ़ाकर पत्ते इत्यादि खा लूँगा।

बहुत समय आलस्य में बीत गया। जब भूख बहुत तेज़ हुई तो उसने गर्दन बढ़ाकर दूर लगे ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के पत्ते खाना शुरू कर दिया।

इस तरह आराम से एक जगह बैठे ही काम चलने लगा।

एक बार जब अपनी लम्बी गर्दन से वह बहुत दूर लगे वृक्षों के पत्ते खा रहा था तो आँधी आ गयी। धूल उसकी आँखों में भर गयी। उसने इधर-उधर देखा तो पास के पहाड़ में उसे एक गुफा दिखाई पड़ी। ऊँट ने अपनी गर्दन बढ़ाकर अपना सिर उस गुफा में रख दिया।

ठीक उसी समय पानी बरसने लगा। ऊँट आँखें बन्द कर गुफा में सिर किए चुपचाप पड़ा रहा।

बारिश में भीग कर काँपता हुआ भूखा-प्यासा एक सियार उस गुफा में घुस आया। उसके साथ उसकी मादा भी थी। वे दोनों ठण्ड और भूख से बहुत परेशान थे।

अँधेरे में आँखें अभ्यस्त होने पर उन्हें गुफा में ऊँट का सिर दिखाई पड़ा। उन्होंने देखा कि इसकी तो बड़ी लम्बी गर्दन है। अतएव डरने की कोई बात नहीं है। उन्होंने गर्दन को खाना शुरू कर दिया।

ऊँट ने तपाक से सिर उठाया और गर्दन बाहर खींची। दोनों सियार उसकी गर्दन पर चढ़ गए और मांस खाने लगे। गर्दन बहुत लम्बी होने के कारण सियारों से उसे छुड़ाकर अपने शरीर तक लाने में ऊँट को बहुत समय लगा। तब तक उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे।

उपयुक्त वर न माँगने के कारण ऊँट की कठोर तपश्चर्या और प्रजापति के दर्शन भी व्यर्थ साबित हुए।

(शान्तिपर्व से)

बिलाव का व्रत

एक चतुर बिलाव था। कई दिनों से उसे चूहे खाने को नहीं मिल रहे थे। सारे चूहे जाने कहाँ छिप जाते थे।

काफ़ी सोच-विचार के बाद बिलाव को एक उपाय सूझा। वह गंगा के किनारे गया। वहाँ आगे के दोनों पंजे ऊपर कर वह खड़ा हो गया। आने-जानेवालों से कहता—मैं अपने मन की शुद्धि करके धर्म का आचरण कर रहा हूँ।

उसपर भला कौन विश्वास करता? पर वह रोज़ आकर वैसे ही खड़ा रहता। धीरे-धीरे कई दिन बीत गए। पक्षी उसका विश्वास करने लगे। वे उसके पास आकर उसकी स्तुति करते। यहाँ तक कि सभी पक्षी उसका बेहद आदर-सम्मान करने लगे। चतुर बिलाव मन-ही-मन खुश हो रहा था। उसका काम बस बनने ही वाला था।

उसके बाद भी वह शान्त रहा। फिर कई दिन बीत गए। एक दिन वहाँ कुछ चूहे आए। उन्होंने उस धार्मिक बिलाव को देखा। उन्हें उसके व्रत के बारे में पता चला। वे सोचने लगे कि यह बिलाव तो कितना महान् धार्मिक कार्य कर रहा है। हमें इससे कोई हानि नहीं होगीं, वैसे भी हमारे अनेक शत्रु हैं। ऐसे में हम इस बिलाव को मामा बना लेते हैं और बच्चों-बूढ़ों के साथ इसकी भी देखभाल करते हैं।

इस निश्चय के साथ वे उस बिलाव के पास जाकर बोले, 'हे बिलाव मामा, आपकी कृपा के प्रसाद से हम सुख और आनन्द से रहना चाहते हैं। आप हमारे अचल आधार मित्र हैं। हम सब मिलकर आपकी शरण में आए हैं। आप धर्मपरायण हैं, आपकी तो धर्म पर अटल आस्था है। जैसे इन्द्र देवताओं की रक्षा करते हैं, वैसे ही आप हमारी रक्षा करें।'

चतुर बिलाव मन-ही-मन उन मूर्ख चूहों पर हँसा। वह चूहों से बोला, 'बन्धुओ, तुम सबकी बात मैं भला कैसे टाल सकता हूँ? तुमने मुझपर कितना विश्वास दिखाया है। लेकिन अपनी तपस्या और तुम सबकी रक्षा—ये दोनों काम मैं एकसाथ नहीं कर सकता। पर नहीं, तुम्हारी श्रद्धा की अवहेलना मैं नहीं कर पाऊँगा। तुम्हारे हित में जो है, वही मुझे करना चाहिए। क्या तुम

सब मेरा कहा मानोगे?'

'हाँ, हाँ। ज़रूर मानेंगे।' सिर झुकाकर सारे चूहे एक स्वर में बोले।

'देखो, इस कठिन तपस्या से मैं बहुत कमज़ोर हो गया हूँ। चलने की भी शक्ति मुझमें नहीं रही। तुम सबको मुझे उठाकर रोज़ गंगा किनारे लाना होगा।' बिलाव ने अपनी शर्त रखी।

'इसमें क्या बड़ी बात है।' चूहे बोले और सहर्ष मान गए।

हज़ारों चूहे बिलाव की सेवा में लगा दिए गए।

वह किसी चूहे को कोई अलग-सा काम बताता और अन्य चूहों की आँख बचाकर उसे खा जाता। उपस्थित चूहों को आँखें बन्द कर ध्यान करने को कहता और दो-चार छोटे-छोटे चूहों को निगल जाता।

इस प्रकार तरह-तरह की युक्तियाँ करता हुआ वह पापी दुष्टात्मा बिलाव चूहे खाकर हृष्ट-पुष्ट होने लगा। उसकी ताकत बढ़ने लगी और चूहों की संख्या घटने लगी।

कुछ समय बाद चूहों का ध्यान अपनी घटती संख्या की ओर गया। उन्हें शंका हुई कि कहीं अपनी अन्ध श्रद्धा में डूबकर वे अपना ही नुकसान तो नहीं कर रहे हैं। पर वे इतने भोले और मूर्ख थे कि बिलाव का छल जान ही नहीं सके।

उनमें एक बुद्धिमान् चूहा था डिंडिक। वह चूहों को बचाने के लिए कुछ करना चाहता था, लेकिन संख्या की कमी बिलाव के कारण हो रही है, यह सिद्ध तो हो, वर्ना विश्वास कैसे करेंगे सब। लिहाज़ा उसने सबसे कहा कि वह भी बिलाव मामा को गंगा-तट पर छोड़ने जाएगा। जब सब लौटने लगेंगे तो वह वहीं रुक जाएगा।

सभी ने उसकी बात मान ली।

अगले दिन बिलाव को गंगा-तीर पहुँचाकर सब चूहे लौट रहे थे, तब वह जान-बूझकर पीछे रह गया। सब तो दौड़ गए, मगर वह बेचारा बिलाव मामा के पेट में पहुँच गया।

जब कई दिनों तक डिंडिक नहीं लौटा तो सभी चूहों ने फिर बैठक बुलायी। सब तरह की चर्चाएँ हुईं, पर श्रद्धालु चूहों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई।

अन्ततः कोलिक नामक एक बूढ़ा चूहा बोला 'तुम सब सच्चाई से आँखें मूँद रहे हो। बिलाव धर्माचरण नहीं, ढोंग कर रहा है। मैंने उसकी सब कृतियों का विश्लेषण कराया है। जानते हो फल-फूल खानेवाले प्राणियों के मल में बाल

नहीं होते। पर इसके मल में बाल होते हैं। यह दिन-पर-दिन मोटा हो रहा है। इसके पास से डिंडिक नहीं लौटा। क्या इतने प्रमाण काफ़ी नहीं? अब तो पहचानना सीखो।'

कोलिक की बातों से चूहों की आँखें खुल गईं। धर्म के झण्डे की आड़ में पापकर्म करनेवाले उस बिलाव का ढोंग उनकी समझ में आया। सावधान होकर सभी चूहे उस स्थान को छोड़कर भाग गए।

कई दिन तक उनकी राह देखकर वह दुष्टात्मा बिलाव भी हताश होकर कहीं और चला गया।

(उद्योगपर्व से)

प्रमद्वरा

च्यवन ऋषि बड़े प्रसिद्ध थे। उनके पुत्र का नाम था प्रमति और प्रमति का पुत्र था सरू। यह सरू की कहानी है।

प्रमति के समकालीन एक ऋषि थे स्थूलकेश। स्थूलकेश तपश्चर्या और विद्या–दोनों दृष्टियों से विख्यात थे।

उन्हीं दिनों गन्धर्वराज विश्वावसु और देवलोक की अप्सरा मेनका में प्रेम हो गया और मेनका गर्भवती हो गयी। प्रसूति के बाद मेनका ने अपनी नवजात पुत्री को स्थूलकेश के आश्रम के पास डाल दिया और वह निर्लज्जा देवलोक को भाग गयी।

स्थूलकेश नदी में नहाकर जब लौट रहे थे तो उन्होंने किनारे के पास उस बच्ची को पड़ा देखा। उन्हें बच्ची पर बड़ी दया आयी। उन्होंने बच्ची को उठा लिया और उसे आश्रम में ले आए। बड़े कष्ट से और बड़े वात्सल्य से ऋषि ने बच्ची का पालन-पोषण किया। पवित्र आश्रम में ही वह बड़ी हुई। तेज, रूप और गुणों में वह कन्या अन्य सबसे बढ़-चढ़ कर थी, इसलिए ऋषि ने उसका नाम रखा प्रमद्वरा।

एक बार षोडषी प्रमद्वरा सरू को दिखाई पड़ गयी। वह धर्मात्मा उस रूपवती के प्रेम में पागल हो गया। उसने अपने मित्रों द्वारा यह बात अपने पिता प्रमति को कहलायी।

ऋषि प्रमति ने कीर्तिवान् स्थूलकेश से अपने पुत्र सरू के लिए उसकी पुत्री प्रमद्वरा की याचना की। स्थूलकेश मान गए। विवाह का दिन भी तय हो गया।

विवाह से थोड़े दिन पहले अपनी सखियों के साथ प्रमद्वरा आश्रम में खेल रही थी। तभी उसका पैर ज़मीन पर आड़े-तिरछे पड़े एक भुजंग पर पड़ा। भुजंग ने अपने विषयुक्त दाँतों से प्रमद्वरा के पैर को काट लिया। तत्क्षण वह ज़मीन पर गिर गयी, उसके अलंकार बिखर गए और बाल फैल गए। बेहोशी की अवस्था में भी वह अत्यन्त कमनीय दिखाई पड़ रही थी।

सर्पदंश की खबर मिलते ही ऋषि स्थूलकेश भागे-भागे आए और बड़े दुखी मन से उसके उपचार में जुट गए। अनेक आश्रमवासी भी वहाँ आ गए।

ऋषि प्रभति और सरू भी वहाँ पहुँचे। आश्रमवासी आर्त विलाप करने लगे। सरू तो इतना दीन हो गया कि वहाँ से दूर घने वन में जाकर रोने लगा। शोक से व्याकुल वह बार-बार सिर पीटने लगा और प्रार्थना करने लगा कि यदि मैंने धर्म का सही-सही पालन किया हो, तप का आचरण किया हो और गुरु की उत्कृष्ट सेवा की हो तो मेरी प्रिया फिर जीवित हो उठे। इस तरह वह सतत विलाप कर रहा था।

कोई देवदूत उधर से गुज़रा तो उसने सरू का विलाप सुना। वह सान्त्वना देता हुआ बोला कि यदि कोई अपना अर्जित पुण्य और आधी आयु सर्पदंश से मरे व्यक्ति को दान करे तो उसके जीवित होने की सम्भावना होती है।

देवदूत की बात सुनकर सरू पद्मासन पर बैठ गया और देवताओं की प्रार्थना करता हुआ कि 'हे परमेश्वर मैंने सदा धर्माचरण किया है और गुरु की सेवा की है। मैंने कभी कोई पाप-कर्म नहीं किया। मैंने जो भी पुण्य अर्जित किया है, उसे मैं प्रमद्वरा को अर्पित करता हूँ। हे प्रभो! इस पुण्य की शक्ति से वह पुनः जीवित हो उठे। हे प्रभो! मैं अपना शेष आधा जीवन भी उसे अर्पित करता हूँ। हे दयानिधे! मेरा आधा जीवन लेकर उसे उतना जीवन दे दीजिए। हे प्रभो! आपकी अत्यन्त कृपा होगी।'

इसके बाद वह वहीं बैठ परमेश्वर का ध्यान करने लगा।

सरू की प्रार्थना के प्रभाव से प्रमद्वरा जी उठी। वह ऐसे उठ बैठी, जैसे वह पहले एकाएक सो गई हो। आश्रमवासी आनन्दित हो गए। ऋषि स्थूलकेश बड़े प्रेम से उसे आश्रम के भीतर ले गए।

निश्चित मुहूर्त पर सरू और प्रमद्वरा का विवाह हो गया। विवाह के बाद सरू और कठोर तप करने लगा। एक और परिवर्तन उसमें दिखाई पड़ा। वह हमेशा एक डण्डा पास रखने लगा। जब कोई साँप दिखाई पड़ता सरू कठोरता से उसे मार डालता। छोटे-बड़े सैकड़ों साँप उसने मार डाले।

एक बार सरू के रास्ते में एक दोमुँहा साँप आ गया। उसे मारने के लिए ज्यों ही सरू ने डण्डा उठाया ही वह बोला, 'हे तपस्वी, मैंने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है। फिर क्रोध से भ्रमिष्ट होकर कठोरता से मुझे क्यों मारना चाहते हो?'

सरू बोला, 'मेरी प्राण से भी प्रिय भार्या को किसी सर्प ने डस लिया था, इसलिए मैंने घोर प्रतिज्ञा की है कि जो भी साँप मुझे दिखाई पड़ेगा, उसे मैं मार डालूँगा।'

दोमुँहा बोला, 'मनुष्यों को डसनेवाले और उनकी जान लेनेवाले साँप

बिलकुल अलग ही होते हैं। सभी साँप एक-से नहीं होते। मैं बाहर से साँप-जैसा दिखाई पड़ता हूँ, पर मैं निर्विष हूँ। मुझसे किसी को कोई हानि नहीं होती। मेरे जैसे साँपों को मारना तुम्हें शोभा नहीं देता। जो अपराध करे, दण्ड उसी को मिलना चाहिए।'

दोमुँहे की बात सरू को सही लगीं। इसके पश्चात् साँप मारने का अपना व्रत उसने छोड़ दिया।

(आदिपर्व से)

राजा शिवि और कबूतर

राजा शिवि बहुत उदार मन के व्यक्ति थे। दूर-दूर तक उनकी प्रसिद्धि थी। उन-जैसा दानी कोई नहीं, ऐसी उनकी ख्याति थी। देवता भी उनकी महानता की चर्चा आपस में करते थे।

यह देख अग्नि एवं इन्द्र ने वहाँ जाकर राजा शिवि की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

अग्नि ने एक भयभीत कबूतर का रूप धारण किया और राजा की शरण में पहुँचा। उसके पीछे इन्द्र बाज़ का रूप धारण कर अपने भक्ष्य को खाने के लिए राजा के पास जा पहुँचे।

राजा शिवि अपने दिव्य सिंहासन पर बैठे थे। कबूतर उनकी गोद में अभय दान पाने की आशा से पड़ा था।

राजपुरोहित ने राजा से कहा, 'महाराज! बाज़ के भय से यह कबूतर आपकी शरण में आया है। इसकी इच्छा है कि आप इसके प्राण बचाएँ। पर विद्वानों का कथन है कि इस प्रकार कबूतर का आकर गिरना अनिष्ट का सूचक है। आपका अन्तकाल निकट आ गया है, इसलिए आप दान देना प्रारम्भ करें।'

फिर कबूतर ने राजा से कहा, 'हे राजन्! कृपा करके मेरी रक्षा करें। मैं कबूतर नहीं ऋषि हूँ। मैंने स्वेच्छा से अपना रूप बदला है। मैं धर्म-कर्म को माननेवाला, प्रकाण्ड पण्डित वेदों का ज्ञाता हूँ। मैं वेदों का प्रवचन और छन्दों का संग्रह करता हूँ। मैंने वेदों के एक-एक अक्षर का अध्ययन किय है। मुझ-जैसे व्यक्ति को किसी भूखे का आहार बनाने के लिए देना, उत्तम दान नहीं है। इसलिए तुम मुझे बाज़ को मत देना।'

उधर बाज़ ने कहा, 'राजन्! सभी प्राणी बारी-बारी से अलग-अलग योनियों में जन्म लेते हैं। शायद तुम भी किसी योनि में कबूतर रह चुके हो, इसलिए तुमने इसे आश्रय दिया है। राजन्! आप मेरी आहार-प्राप्ति में बाधा न बनें।'

राजा ने मन में सोचा—आज से पहले क्या कभी किसी ने कबूतर और बाज़ को संस्कृत बोलते सुना है? वस्तुतः इनका सच्चा स्वरूप जानकर ही इनसे न्यायोचित व्यवहार किया जा सकता है। लेकिन भयभीत शरणागत को जो

राजा शत्रु को सौंपता है, उसके राज्य में वर्षा नहीं होती। उसकी सन्तान बचपन में मर जाती है। उससे देवता अप्रसन्न हो जाते हैं। फिर बाज़ से कहा, 'हे बाज़! तुम इस कबूतर को छोड़ दो। मेरे सेवक तुम्हें चावल में बैल पकाकर देंगे।'

बाज़ ने उत्तर दिया, 'नहीं राजन्! मुझे बैल का मांस नहीं चाहिए। आज यही कबूतर मेरा आहार है।'

राजा बोले, 'हे पक्षीश्रेष्ठ! इस कबूतर पर दया कर इसे छोड़ दें। इसके बदले चाहें तो मेरे प्राण ले लें। चाहे कुछ हो, अब यह कबूतर मैं दूँगा नहीं।'

बाज़ ने कहा, 'हे राजन्! तुम अपनी दाहिनी जाँघ में से कबूतर के वज़न का मांस मुझे दो।'

राजा ने अपनी दाहिनी जाँघ का मांस काटकर तराजू के एक पलड़े में रखा और दूसरे में कबूतर को रखा, लेकिन कबूतर का वज़न ज़्यादा था। फिर उन्होंने अपनी देह का और मांस काटकर डाला, पर फिर भी पलड़ा कबूतर की तरफ़ भारी रहा।

राजा देह काटते रहे और पलड़े में रखते रहे, पर कबूतर का पलड़ा भारी रहा। अन्ततः वे स्वयं तराजू पर बैठ गए। उस क्षण भी उनके मन में कोई विषाद नहीं था।

इसे देख बाज़ बोला, 'कबूतर की प्राणरक्षा हो गयी।'

फिर वह अन्तर्धान हो गया।

यह देख राजा शिवि ने कबूतर को विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उनसे उनका असली परिचय माँगा।

कबूतर ने कहा, 'राजन्! मैं अग्नि और बाज़ देवराज इन्द्र आपकी महानता की परीक्षा लेने इस रूप में आए थे। आप दीर्घायु हों। आपकी त्वचा सुवर्णकान्ति की तरह सुगन्धित होगी। आपका पुत्र तेजस्वी होगा।'

इसके बाद कबूतर भी अन्तर्धान हो गया।

राजा शिवि के दयालु स्वभाव के विषय में लोगों में श्रद्धा की भावना और भर गयी।

(आदिपर्व से)

असली पति कौन

भृगु महर्षि की पत्नी का नाम पुलोमा था। ऋषि उससे बहुत प्रेम करते थे। वह भी उनकी सेवा में जुटी रहती थी। वह उनके साथ ही वन में कन्दमूल, फल इकट्ठे करने जाती और दोनों नदी पर नहाकर साथ-साथ लौट आते थे।

एक बार जब वह गर्भवती थी और कुछ अस्वस्थ थी तो महर्षि अकेले ही वन में गए।

उनके आश्रम से जाते ही एक राक्षस आश्रम में घुस आया। राक्षस को सौन्दर्यशालिनी भृगु-पत्नी अकेली आश्रम में विचरती दिखाई पड़ी। वह आया तो गाय की चोरी करने था, मगर रूपवती स्त्री को देखकर उसका मन बदल गया।

पुलोमा ने उसे देखा तो कोई अतिथि समझकर कन्दमूल, फलों से उसका आदर किया।

थोड़ी देर बातचीत के बाद राक्षस ने पहचान लिया कि यह वही स्त्री है जिससे उसने विवाह करना चाहा था, मगर उसके पिता ने उसका विवाह भृगु से कर दिया था। उसने सोचा, इस स्त्री का अपहरण करने का यह उपयुक्त अवसर है।

परन्तु स्त्री कहीं शोर न मचा दे, इस भय से उसे राज़ी करने की दृष्टि से राक्षस ने वहाँ प्रज्वलित अग्नि से प्रार्थना की—हे अग्नि, तुम देवताओं के मुख-स्वरूप हो। सच बताओ, इस स्त्री को पहले मैंने मन-ही-मन चाहा और विवाह की इच्छा भी की, परन्तु उसके पिता ने इसे भृगु को ब्याह दिया। इस तरह वस्तुतः वह पहले मेरी पत्नी थी और भृगु से बाद में इसका विवाह हुआ। पुलोमा से मैंने मन में विवाह कर लिया था, अतएव भृगु ने ही उसका अपहरण किया है। यह वास्तव में मेरी ही पत्नी है, ऐसा तुम निर्णय दो। इसे भी मेरे साथ भाग जाने में संकोच नहीं होगा।'

अग्नि बेचारा विषण्ण हो गया। अगर भृगु की ओर से निर्णय दे तो पूर्ण सत्य तो नहीं होगा। और यदि राक्षस की ओर से निर्णय दे तो महर्षि उसे शाप दे देंगे। उसने भयभीत स्वर में कहा, 'हे राक्षस, तुमने पुलोमा का मन-ही-मन वरण कर लिया था, यह सच है परन्तु इसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण

नहीं किया था। भृगु के साथ इसका विधिपूर्वक विवाह हुआ था, इसका मैं साक्षी हूँ।'

राक्षस ने सोचा, अग्नि मेरे पुलोमा के मन-ही-मन वरण की बात तो मानता ही है। तब मेरी दृष्टि से तो वह मेरी पत्नी होनी चाहिए। राक्षस ने वराह का रूप धारण कर लिया और वायु वेग से पुलोमा को भगा ले चला।

भाग-दौड़ में बेचारी पुलोमा के पेट का गर्भ गिर गया। माता के पेट से निकला वह बालक सूर्य के समान तेजस्वी था। उसे देखकर राक्षस डर गया और पुलोमा को छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

पुलोमा ने अपने पुत्र को उठा लिया। वह दुःखी स्त्री रोती हुई अपने आश्रम में पहुँची।

महर्षि भृगु ने उसे इस हालत में देखा तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। पुलोमा ने सारी घटना उसे कह सुनायी। सारा वृत्तान्त सुनकर तो वे और क्रोधित हुए और उन्होंने अग्नि को शाप दे दिया।

अग्नि ने काम करना बन्द कर दिया तो सभी को बड़ी परेशानी हो गयी। अग्नि तो देवताओं का मुख होता है। उसके काम न करने पर देवताओं को आहुति मिलना बन्द हो गयी। तब सभी देवता मिलकर ब्रह्मदेवता के पास गए। ब्रह्माजी ने भृगु से भी बात की और अग्नि को भी समझाया। किसी प्रकार अग्नि मान गया और फिर सारे कार्य यथाविधि सम्पन्न होने लगे।

(आदिपर्व से)

उपमन्यु की परीक्षा

उपमन्यु ऋषि धौम्य का ही शिष्य था। वह पठन-पाठन के साथ-साथ गुरु की सेवा में लगा रहता था।

ऋषि ने एक बार उसे गो-पालन का काम देते हुए कहा, 'बेटे उपमन्यु, आज से गायों की रखवाली के लिए वन में तुम जाया करो।'

गुरु की आज्ञा से उपमन्यु गायों के साथ वन जाने लगा। दिन-भर गायें चराकर वह शाम को गुरु को प्रणाम करने के बाद अपने काम में लग जाता।

उपमन्यु का स्वास्थ्य उत्तम देखकर ऋषि बोले, 'उपमन्यु, तुम तो दिन-भर गायें चराते हो। तुम्हारा पेट कैसे भरता है? तुम्हारा स्वास्थ्य तो ठीक-ठाक दिखाई पड़ता है।'

उपमन्यु बोला, 'गुरुजी, मैं वन आते-जाते भिक्षा माँग लेता हूँ। उसी से मेरा काम चल जाता है।'

ऋषि बोले, 'जो भिक्षा मिले, उसे पहले मुझे अर्पित किया करो। ऐसा न करना उचित नहीं है।'

उपमन्यु बोला, 'ठीक है, गुरुजी!'

दूसरे दिन उसने मिली हुई भिक्षा गुरु के आगे रख दी। गुरु ने सारी भिक्षा अपने पास रख ली। उपमन्यु कुछ नहीं बोला और पुनः वन में चला गया।

कुछ दिनों के बाद जब शाम को वह नमस्कार करने पहुँचा तो गुरु को वह पहले जैसा हृष्ट-पुष्ट दिखाई पड़ा। गुरु बोले, 'उपमन्यु, तुम्हारी एकत्र की हुई सारी भिक्षा तो मैं रख लेता हूँ। फिर तुम्हारा पेट कैसे भरता है?'

उपमन्यु बोला, 'गुरुजी, सारी भिक्षा आपको देने के बाद जब मैं वन में जाता हूँ तो रास्ते में दोबारा भिक्षा माँग लेता हूँ, इससे मेरा पेट भर जाता है।'

गुरु बोले, 'गुरु से इस तरह का कपटपूर्ण व्यवहार करना तुम्हें शोभा नहीं देता। फिर ऐसा भी होता होगा कि अन्य भिक्षुओं को भिक्षा न मिलती हो। वे बेचारे भूखे रह जाते होंगे। ऐसा लोभीपन उचित नहीं है।'

'ठीक है।' उपमन्यु ने कहा और वह फिर गायें चराने जाने लगा।

और कुछ दिन बीत गए। एक शाम जब वह नमस्कार करने पहुँचा तो गुरु को उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् दिखाई पड़ा। गुरु बोले 'बेटा उपमन्यु, तुम सारी भिक्षा मुझे दे जाते हो। दोबारा भिक्षा मांगते नहीं, तब तुम्हारा पेट कैसे भरता है?'

उपमन्यु बोला, 'मैं गायों का थोड़ा-थोड़ा दूध पी लेता हूँ। उसी से मेरा पेट भर जाता है।'

गुरु बोले, 'अरे, अरे। दूध पीने की आज्ञा मैंने नहीं दी है। गायों का दूध तुम पी लो, यह आश्रम के नियमों के विरुद्ध है। भविष्य में ऐसा मत करना।'

उपमन्यु बोला, 'जैसी आज्ञा।'

कुछ दिन और गुज़र गए। किसी दिन शाम को गुरु को उपमन्यु पूर्ववत् स्वस्थ दिखाई पड़ा तो गुरु ने पूछा, 'उपमन्यु, सब ठीक है न। तुम आजकल एकत्रित सारी भिक्षा मुझे दे जाते हो। दोबारा भिक्षा नहीं माँगते। गायों का दूध भी तुम नहीं पीते। फिर भी तुम्हारी प्रकृति तो अच्छी दिखाई पड़ती है। तुम खाते क्या हो?'

उपमन्यु बोला, 'जब कोई बछड़ा गाय का दूध पीता है तो मैं पास चला जाता हूँ। जो झाग उनके मुँह से गिरता है, उसी को मैं पी लेता हूँ। इस तरह काम चल ही जाता है।'

गुरु बोले, 'अरे, तुमने यह नहीं सोचा कि वे नन्हे-नन्हे बछड़े तुमपर दया करके बहुत झाग बाहर डाल देते होंगे। इस तरह उनके पेट में कम दूध पहुँचता है। सच कहा जाए तो तुम्हें झाग नहीं पीना चाहिए।'

'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर उपमन्यु फिर अपने काम पर वन में चला गया। जब उसे बहुत भूख लगी तो वह व्याकुल हो गया। उसने सोचा, चलो कुछ पत्ते ही खा लेता हूँ। फिर उसने सोचा, यदि मैं उन पेड़ों के पत्ते खाऊँ जिन्हें गाए खाती हैं तो शायद गुरुजी को अच्छा न लगे। इसलिए उसने ऐसे पेड़ के पत्ते खाए जिन्हें गायें छूती भी न थीं। वे नीरस, मोटे, कड़वे पत्ते बड़े अरुचिकर थे, मगर भूख के कारण वह खा गया। उनका प्रभाव बड़ा बुरा था। उसकी तबीयत खराब हो गयी। उसे चक्कर आने लगे और आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वह किसी तरह हाथों से पेड़ों को छूता हुआ गायों को पुकारता हुआ घूमने लगा और आखिर एक गहरे गड्ढे में गिर गया।

शाम हो गयी। गायें आश्रम में लौट आयीं, मगर उनके साथ उपमन्यु नहीं था। तब गुरुजी को चिन्ता हो गयी। वे अन्य शिष्यों से बोले, 'मैंने परीक्षा

के लिए उसको भोजन के सभी साधनों से वंचित कर दिया, इसलिए शायद वह रुष्ट हो गया है। चलो, उसकी खोज की जाए।'

सभी वन में गए। गुरुजी ज़ोर-ज़ोर से उसे बुलाने लगे। कुछ देर बाद उन्हें उपमन्यु की क्षीण आवाज़ सुनाई पड़ी। वह बोला 'गुरुजी, मैं इस गड्ढे में गिर गया हूँ।'

'मगर तुम गड्ढे में गिरे कैसे?' गुरुजी ने पूछा।

उपमन्यु बोला, 'मुझे बहुत भूख लगी थी। मैंने ऐसे पेड़ के पत्ते खाए जिन्हें गायें छूती भी नहीं हैं। फिर मेरी तबीयत खराब हो गयी, चक्कर आने लगे। गायों की देखभाल के लिए घूमते हुए मैं इस गड्ढे में गिर गया। अब लगता है, मैं अन्धा भी हो गया हूँ।'

गुरु ने उसको बाहर निकलवाया। उसे पहले कुछ खाने-पीने को दिया। फिर उसका उपचार करके उसकी आँखें ठीक कर दीं। वे उपमन्यु की आज्ञाकारिता से बड़े प्रसन्न हुए।

(आदिपर्व से)

तोता और वृक्ष

काशी राज्य में एक शिकारी हिरन की खोज में भटक रहा था। किसी वन में उसे एक हिरन दिखाई पड़ा। पर्याप्त दूरी पर समझ उसने हिरन पर एक विषबुझा बाण फेंका, मगर लक्ष्य चूक गया और बाण एक हरे-भरे वृक्ष में जा धँसा। उस तीक्ष्ण और विषैले बाण से पेड़ को ऐसा झटका लगा कि उसके सारे पत्ते और फल झड़ गए। वृक्ष सूखने लगा।

धीरे-धीरे उस वृक्ष पर रहनेवाले सारे पक्षी और कीट-पतंग उसे छोड़कर चले गए। पेड़ की खोल में रहनेवाला एक तोता ज़रूर वहीं बना रहा। कुछ समय बाद उसकी हलचल कम हो गयी। उसने खाना-पीना भी छोड़ दिया। वह बड़ा दुर्बल हो गया। उसे कण्ठ से आवाज़ निकालना भी मुश्किल हो गया। वृक्ष ने उसपर जो अनेक उपकार किए थे, उन्हें स्मरण कर वह तोता भी वृक्ष के साथ सूखने लगा।

तोते के व्यवहार की सर्वत्र चर्चा होने लगी। आने-जानेवाले उसके अनोखे व्यवहार से चकित थे।

पृथ्वी पर चल रही सब तरह की गतिविधियों का ध्यान रखनेवाले देवताओं को यह दिखाई पड़ा। उन्होंने इस विषय में अपने राजा इन्द्र से बात की।

उस उदार मनवाले और सत्य एवं देवतुल्य आचरणवाले तोते को वृक्ष के सुख-दुःख का अनुभव करते देख देवराज इन्द्र को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा, दूसरों के दुःख से दुखी होने का यह महान् गुण इस तोते में कैसे दिखाई पड़ रहा है! उससे न रहा गया और वह एक पथिक का वेष धारण कर वहाँ आ पहुँचा। उस तोते की ओर मुँह करके वह बोला, 'हे पक्षिश्रेष्ठ तोते! तुम जैसी सन्तान के कारण तुम्हारी माँ शुकी धन्य हो गई है। मगर, मैं जानना चाहता हूँ कि आखिर तुम इस वृक्ष का त्याग क्यों नहीं करते?'

तोता बोला, 'यायावर! प्रणाम। तुम्हारा स्वागत है। इस पेड़ के फल गिर चुके हैं, नहीं तो मैं तुम्हें ज़रूर खिलाता। अन्यत्र जाने की अब मुझमें शक्ति नहीं है। बैठो, थोड़ा आराम तो ज़रूर करो।'

पथिक बोला, 'भाई, मेरे प्रश्न का तुमने उत्तर नहीं दिया। यह इतना बड़ा

वन है। इसमें न जाने कितने हरे-भरे सुन्दर वृक्ष हैं। फिर तुम इस पत्र-पुष्पविरहित पेड़ से ही क्यों चिपके हो?'

पथिक की बात सुनकर उस धर्मशील तोते ने लम्बी साँस भरी। फिर दीन भाव से वह बोला, 'यह वृक्ष मुझे देवता-समान है। देवता का अपमान नहीं करना चाहिए। इसी वृक्ष पर मेरा जन्म हुआ। मेरा बचपन इसी की शाखाओं पर बीता। यहाँ मुझे पूरी सुरक्षा भी मिली। सारा जीवन मैं इसके फल खाता रहा। जीवन के आवश्यक सारे गुण यहाँ प्राप्त हुए। यह वृक्ष मेरा पालनकर्ता, मेरा सखा, मेरा देवता है। इसे छोड़कर मैं कैसे चला जाऊँ?'

पथिक बोला, 'एक बात तुम्हारे ध्यान में नहीं आयी। कुछ समय में यह सूख जाएगा और तब इसमें आग लगने का खतरा हो सकता है।'

तोता बोला, 'मैं इसे छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। अगर इसे आग लग जाए तो मैं भी इसी के साथ जल मरूँगा।'

पथिक तोते की बात से हर्षविभोर हो गया। उसने अपना असली रूप प्रकट किया और बोला, हे धर्मशील तोते! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम कोई भी वर माँगो।'

तोता इन्द्रदेव को प्रणाम कर बोला, 'प्रभो! आप मुझपर प्रसन्न हैं और इच्छित वर देना चाहते हैं तो इस वृक्ष को पुनः हरा-भरा बना दीजिए।'

(अनुशासनपर्व से)

कच और देवयानी

बहुत प्राचीन काल में त्रिभुवन के आधिपत्य के लिए देवताओं और असुरों में दीर्घकाल तक संघर्ष हुआ। देवताओं ने अंगिरस मुनि (बृहस्पति) को अपना पुरोहित बनाया। असुरों ने उशनस् (शुक्राचार्य) को अपना गुरु बनाया।

शुक्राचार्य संजीवनी विद्या जानते थे। इस विद्या से वे युद्ध में मारे गए दानवों को फिर जीवित कर देते थे। बृहस्पति के पास ऐसा कोई ज्ञान नहीं था। फलतः देवताओं की संख्या घटने लगी। असुरों की शक्ति बढ़ती गयी।

देवता बड़े दुःखी हुए। आपस में विचार-विमर्श करके वे अपने गुरु बृहस्पति के पुत्र कच के पास गए और प्रार्थना करने लगे, 'हे कच, शुक्राचार्य की संजीवनी विद्या के कारण देवता हार की ओर बढ़ रहे हैं! अब तुम्हारी सहायता से ही कुछ हो सकता है। अगर तुम गुरु शुक्राचार्य के पास से संजीवनी विद्या प्राप्त कर सको तो हमारी हार रुक सकती है। तुम शीलवान्, सौजन्यशाली, सदाचारी और परिश्रमी हो। तुम शुक्राचार्य की सेवा कर उनका मन जीत सकते हो। उनकी एक कन्या है जो उन्हें बहुत प्रिय है। उस तरुणी को रिझाकर उसके पिता से तुम संजीवनी विद्या प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारे अलावा अब हमें बचानेवाला कोई नहीं है।'

कच ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह असुरों की नगरी में गया और गुरु शुक्राचार्य को दण्डवत् प्रणाम कर बोला, 'मुंनिवर, मैं देवगुरु बृहस्पति का पुत्र कच हूँ। आप मुझे शिष्य स्वीकार कर लीजिए। मैं आपकी सेवा में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहता हूँ।'

गुरु शुक्राचार्य बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कच का ,स्वागत किया और उसे अपना शिष्य बना लिया। कच उनकी और देवयानी की आराधना में जुट गया। कठोर परिश्रम से और तरह-तरह के कौशल्य से उसने उनका मन जीत लिया।

बहुत समय बीत जाने पर असुरों ने कच को पहचान लिया। देवताओं से द्वेष के कारण और संजीवनी विद्या की रक्षा के लिए उन्होंने कच को एक बार वन में घेर लिया। कच को मारकर उसके शरीर के टुकड़ों को असुरों ने भेड़ियों को खिला दिया।

शाम हुई, गायें वापिस आ गयीं, किन्तु कच उनके साथ न था। देवयानी

घबरा गयी। अब तक उसे कच से प्रेम हो गया था। उसने पिताजी को कच के मारे जाने का शक जतलाया। उसने कहा कि यदि कच नहीं आया तो उसका जीवन भी समाप्त समझा जाए।

शुक्राचार्य बोले, 'बेटी, दुखी न हो। कच अगर इस संसार में न हो तो मैं उसे फिर जीवित कर दूँगा।'

गुरु ने संजीवनी विद्या का प्रयोग किया और ज़ोर से कच को बुलाया। विद्या के तत्क्षण प्रभाव से भेड़ियों के शरीरों को विदीर्ण करता हुआ कच उनके सामने प्रकट हो गया। पूछने पर उसने बताया कि जब वह गायें चरा रहा था तो कुछ असुरों ने उसे घेर लिया। उनके पूछने पर जब उसने बताया कि वह देवगुरु बृहस्पति का पुत्र कच है तो उन्होंने उसको मारकर भेड़ियों को खिला दिया। दूसरी बार फिर वन में असुरों ने उसे घेरकर मार डाला। इस बार उन्होंने उसके शरीर की चटनी बनायी और उसे समुद्र में घोल दिया। शाम को जब वह आश्रम नहीं पहुँचा तो देवयानी रोने लगी। शुक्राचार्य ने फिर संजीवनी विद्या के सहारे उसे जीवित कर दिया।

ऐसी घटना तीसरी बार फिर हुई। असुरों ने फिर कच को मार डाला। उसे जलाकर उसकी राख शराब में मिला दी। वह शराब शुक्राचार्य को पिला दी गयी। कच जब शाम को नहीं लौटा तो देवयानी अत्यन्त दुखी हुई और पिता से कच को जीवित करने के लिए कहने लगी।

गुरु बोले 'देवयानी! कच अब इस संसार में नहीं है। पहले दो बार उसे मैं जिला चुका हूँ। उसका फिर भी वध कर दिया गया। हम कर भी क्या सकते हैं?'

देवयानी बोली, 'पिताजी, कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाला वह तपोधन है। वह कर्त्तव्यपालन में अद्वितीय है। वह प्राज्ञ है। मुझे वह बहुत प्रिय है। मैं अब अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। कच जहाँ चला गया है, मैं भी वहीं चली जाऊँगी।'

शुक्राचार्य बेटी के दुःख से दुखी हो गए। उन्होंने असुरों को बुलाकर बहुत डाँटा और कहा, 'तुम मेरे शिष्य की बार-बार हत्या करके मेरा बहुत-बड़ा अपराध कर रहे हो। इसका तुम्हें ज़रूर दण्ड भुगतना पड़ेगा।'

इसके बाद शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या का प्रयोग करके ज़ोर से कच को बुलाया, मगर वह सामने नहीं आया। बड़े क्षीण स्वर में उसका उत्तर आया। गुरु पहचान गए कि कच उनके ही पेट में है, इसलिए पेट फाड़कर बाहर नहीं आ सकता। वे बोले, 'बेटा तुम मेरे पेट में ही हो ना? तुम्हें वहाँ किसने कैसे

पहुँचाया?' गुरु की कृपा से कच की बुद्धि उत्तम जाग्रत थी। वह बोला, 'गुरुजी असुरों ने मेरा वध करके जला दिया। मेरे शरीर की राख को सावधानी से मदिरा में मिला दिया गया और वह मदिरा आपको पिला दी गयी। इस प्रकार मैं आपके पेट में पहुँच गया हूँ।'

गुरु बोले, 'देवयानी, मेरा पेट फाड़कर यदि कच बाहर आ जाए तो वह फिर जीवित हो जाएगा। पर मैं जीवित नहीं रहूँगा। हम दो में से तुम्हें कौन चाहिए, वह बताओ।'

देवयानी बोली, 'कच के अन्त से मुझे जैसा शोक हो रहा है, वैसा ही उसके न रहने पर होगा। कच के न रहने से मेरे सुखों का अन्त हो जाएगा। मगर आपके न रहने पर तो मेरा जीवित रहना ही असम्भव हो जाएगा।'

शुक्राचार्य बोले, 'बृहस्पति-पुत्र कच, सुनो ! देवयानी के लिए तुम्हें जीवित करना आवश्यक है। ध्यानपूर्वक सुनो। मैं संजीवनी विद्या तुम्हें सिखाता हूँ। इसे प्राप्त कर तुम मेरे पेट को फाड़कर तुरन्त बाहर आओ। तब मेरा अन्त हो जाएगा। फिर संजीवनी विद्या से तुम मुझे जिला देना। तुम्हारा भला हो।'

इस प्रकार कच को संजीवनी विद्या प्राप्त हो गयी। वह गुरु का पेट फाड़कर बाहर आकर जीवित हो गया। उसके बाद उसने उसी विद्या से गुरु को जीवित कर दिया। वह बोला, 'गुरुवर, मेरा प्रणाम स्वीकार करें। आपने अनन्त ज्ञान मेरे कान में फूँक दिया है, इसलिए आप मेरे पिता हैं। मैं आपके पेट में कुछ समय रहा, इसलिए आप मेरी माता हैं। माता-पिता-रूपी गुरु को बारम्बार प्रणाम।'

इसके दीर्घ काल के बाद व्रत की समाप्ति पर शुक्राचार्य ने कच को घर जाने की अनुज्ञा दे दी। तब देवयानी आग्रह करने लगी कि कच उसका पाणिग्रहण करे।

कच ने उसे समझाया—तुम्हारे पिता मेरे माता-पिता के समान हैं। इस प्रकार मेरे माता और पिता दोनों स्थानों पर हैं। चूँकि मैं सचमुच तुम्हारे पिता के पेट में कुछ समय रहा हूँ, इसलिए मैं तुम्हारे भाई के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता।

काफ़ी चर्चा के बाद यह बात उसकी समझ में आ गयी और उसने कच को अपने घर लौट जाने की अनुमति दे दी।

(आदिपर्व से)

देवयानी और शर्मिष्ठा

असुरों के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा में बड़ी मित्रता थी। वे साथ-साथ उत्सवों में जातीं और साथ-साथ ही विहार करने जातीं।

एक बार चैत्यरथ कुबेर के उद्यान में वे दोनों अपनी सखियों और सहेलियों के साथ विहार करने गयीं। जल-क्रीड़ा के लिए सारी युवतियाँ सरोवर में उतरीं। उनके हास्य-कल्लोल से सारा उद्यान गूँज रहा था। सहसा धूप-भरी तेज़ हवा चलने लगीं। किनारों पर रखे उनके वस्त्र हवा से कुछ दूर उड़ गए। अलग-अलग रखे वस्त्र एक-दूसरे में मिल गए।

अपने वस्त्र खोजने में स्त्रियों को कठिनाई हो रही थी। आंधी में आई धूल के कारण आँखें पोंछती हुई पानी से बाहर आई शर्मिष्ठा ने जल्दी-जल्दी जो वस्त्र पहन लिये, वे उसके न होकर देवयानी के थे। देवयानी जब अपने वस्त्र खोजने लगी तो उन्हें शर्मिष्ठा के तन पर देखकर क्रोधित हो गई। मामूली बात का बतंगड़ बन गया और दोनों सहेलियों में झगड़ा हो गया। शर्मिष्ठा ने, जो छोटी थी पर कुछ अधिक बलवान् थी, देवयानी को धक्का दे दिया। देवयानी का पैर फिसल गया। वह एक अन्धे कुएँ में गिर गयी। शर्मिष्ठा का क्रोध इतना बढ़ा हुआ था कि उसने देवयानी की ओर देखा तक नहीं, बल्कि सारी सखियों को लेकर वहाँ से चली गयी।

देवयानी काफ़ी देर तक वहाँ पड़ी हुई रोती रही। भाग्यवशात् एक शिकारी ने पानी की खोज में उस कुएँ में झाँककर देखा। पानी की जगह एक अनन्य रूपवती को कुएँ में पड़ा देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया। उसने अतिशीघ्रं देवयानी को बाहर निकाला और जल लाकर उसे पिलाया। उसके शान्त होने पर उसने सारी घटना की जानकारी उससे ली, साथ ही उसे अपना परिचय भी दिया।

तभी देवयानी को खोजती हुई उसकी दासी वहाँ आयी और उसे घर चलने के लिए कहने लगी।

देवयानी बोली, 'तू इसी वक्त नगर में जा। मेरे पिताजी को कहना कि मैं उस नगर में अब कदम भी नहीं रखूँगी।'

दासी ने सारी घटना और देवयानी का सन्देश शुक्राचार्य को कह सुनाया। शर्मिष्ठा ने उनकी बेटी को कुएँ में ढकेल दिया, यह सुनते ही वे तुरन्त वन में देवयानी के पास पहुँचे।

देवयानी ने पिता से कहा, 'शर्मिष्ठा कहती है, आप तो उसके पिता के केवल सेवक हैं और मैं सेवक की बेटी। ऐसी अपमानास्पद स्थिति में मैं उस नगर में कभी नहीं जाऊँगी।'

अपनी पुत्री की मनोदशा से आचार्य अत्यन्त क्रोधित हो उठे। उन्होंने असुरराज को कहला भेजा कि वे अपनी पुत्री देवयानी के साथ किसी दूसरे राज्य में चले जाएँगे।

राजा घबरा गया। आचार्य को संजीवनी विद्या के बूते पर ही तो असुर देवों पर विजय प्राप्त करते थे। आचार्य के जाते ही असुरों की सारी शक्ति क्षीण हो जाएगी। वह भागा-भागा शुक्राचार्य और देवयानी के पास पहुँचा। वह आचार्य के पैरों पर गिर पड़ा और क्षमा-याचना करने लगा।

पिता के बुलाने पर शर्मिष्ठा आयी और उसने अपनी जाति और अपने राज्य की भलाई के लिए अपना सारा मानापमान भुला दिया। उसने देवयानी से क्षमा माँगी, मगर देवयानी का क्रोध शान्त नहीं हुआ। अन्त में तय हुआ कि राजकुमारी शर्मिष्ठा अपनी समस्त सखियों के साथ गुरुपुत्री देवयानी की दासी बनकर रहेगी। यही नहीं, देवयानी के विवाह के बाद वह अपनी सखियों समेत दासी-रूप में देवयानी के ससुराल में जीवन-भर रहेगी। इस कठोर निर्णय के बाद कहीं देवयानी का क्रोध शान्त हुआ।

इसके कुछ समय बाद देवयानी ने पिता को बतलाया कि वन में जब वह कुएँ में पड़ी थी तो उसे बाहर निकालनेवाला व्यक्ति राजा ययाति था। वह उसी से विवाह करना चाहती है। आचार्य ने राजा को बुलवाया और उसका विचार पूछा। उसे यह भी बताया कि असुरराज की पुत्री शर्मिष्ठा अपनी सखियों के साथ आजीवन देवयानी की दासी बनी रहेगी।

सभी ने असुर राजकुमारी शर्मिष्ठा और अन्य असुर कुमारियों के त्याग की बड़ी प्रशंसा की।

(आदिपर्व से)

ययाति

महाराज नहुष का दूसरा पुत्र ययाति था। वह बड़ा पराक्रमी था। अपने पराक्रम से वह सम्राट् बन गया। उसने बड़े न्याय से शासन किया, अनेक यज्ञ किए और पितरों एवं देवताओं की आराधना की। उसकी दो रानियाँ थीं–असुरों के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरराज की पुत्री शर्मिष्ठा। ययाति को चार पुत्र हुए। ये चारों भी बड़े पराक्रमी थे।

ययाति ने दीर्घ काल तक धर्मानुसार राज्य किया। उसके राज्य में प्रजा बहुत सुखी थी। प्रजा चाहती थी कि वह राजा बना रहे और उसकी भी लालसा पूरी नहीं हो रही थी। मगर बुढ़ापा तो आता ही है। बुढ़ापे ने ययाति के शरीर को ग्रस लिया। उसकी सुन्दरता नष्ट हो गयी, शक्ति क्षीण हो गयी और दैनिक जीवन के सामान्य काम भी उसे दूभर लगने लगे। मगर लालसा नहीं गयी। इच्छाएँ बलवती हो गयीं। शारीरिक अक्षमताएँ सुखोपभोग की कामनाओं को तीव्र बनाने लगीं।

ययाति ने अपने पुत्रों को बुलाया और कहा, 'बेटो, मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है। तुम सब जवान हो। तुम अपना यौवन मुझे दे दो तो सुख की शेष कामनाओं को पूरा कर लूँगा।'

बड़े पुत्र यदु ने पूछा, 'हमसे यौवन मिलने पर आप क्या करेंगे?'

ययाति ने कहा, 'मेरा लम्बा जीवन अनेक व्रत और निर्बंधों में बीता। बहुत समय युद्धों में चला गया। ऋषि-मुनियों की सेवा और प्रजा के विविध कामों में बड़ी शक्ति खर्च हुई। सुख मिला ही नहीं। यौवन प्राप्त हो जाए तो कुछ काल सुख से बिता दूँ।'

ययाति के ये तर्क उसके तीनों बड़े पुत्रों को नहीं भाये। सबसे छोटा पुत्र पुरु पिता की सहायता के लिए तैयार हो गया।

ययाति ने तप के सामर्थ्य पर अपना बुढ़ापा पुरु को सौंप दिया और उसका नवयौवन स्वयं प्राप्त कर लिया। नवशक्तिमान ययाति अपनी दोनों पत्नियों के साथ आमोद-प्रमोद के नए-नए साधनों और कार्यक्रमों में मशगूल हो गए। अकालवृद्धत्व पाए पुरु ने पिता की आज्ञा से राज-काज के विविध कामों में अपने को उलझा लिया।

इस प्रकार फिर दीर्घ काल बीत गया। ययाति की वासनाओं में कोई कमी नहीं आयी। एक बार आत्मचिन्तन के क्षण में उसे अपनी अतृप्तता का बोध हुआ। उसके मुँह से निम्नलिखित उद्‌गार निकले—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

अर्थात् उपभोग्य पदार्थों के उपभोग से मनुष्य की वैषयिक अभिलाषा की पूर्ति कभी नहीं होती। उलटे घी की आहुति से जैसे अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे ही अभिलाषाएँ उत्कट होती जाती हैं।

ययाति ने इस विषय में बहुत चिन्तन-मनन किया। उपभोग्य पदार्थों की निरर्थकता की उसे तीव्रता से अनुभूति हुई। विवेक-बुद्धि से उसने अपना चित्त स्थिर किया।

उसने पुरु को दिया हुआ अपना वार्धक्य वापस ले लिया। पुरु का उसने राज्याभिषेक किया और तपस्या करने के लिए अपनी रानियों के साथ वन-गमन किया।

(आदिपर्व से)

आत्मबलिदान

बनवास के समय पाण्डवों ने ब्राह्मणों का वेश धारण कर लिया था। वे ग्राम-ग्राम और नगर-नगर घूमते हुए प्रकृति और प्रजा का सूक्ष्म अवलोकन कर रहे थे। किसी स्थान पर वे अधिक समय नहीं टिकते थे। भीम को माँ कुन्ती की रक्षा के लिए छोड़कर चारों भाई ब्राह्मणोचित कर्म और भिक्षा के लिए जाते थे। भीम देखने में इतना बलिष्ठ और प्रभावी दिखाई पड़ता था कि उसे भिक्षा मिलना वैसे भी ज़रा मुश्किल ही था।

एक बार किसी ब्राह्मण के घर में उन्होंने आश्रय लिया था। माँ कुन्ती और भीम घर पर ही थे, जबकि अन्य भाई बाहर गए हुए थे। एकाएक कुन्ती को ब्राह्मण के घर से रोने की आवाज़ आयी। आवाज़ किसी बच्चे की नहीं थी। अदल-बदल कर स्वयं आश्रयदाता ब्राह्मण, उसकी पत्नी और पुत्री के रोने की आवाज़ आ रही थी। ऐसा लगता था, जैसे वे भयंकर आपत्ति में हों।

कुन्ती और भीम ने आपस में कहा कि पता नहीं इस ब्राह्मण-परिवार पर आज क्या आपत्ति आ गई है। हो सके तो इसका निराकरण करना चाहिए।

पता लगाने कुन्ती गयी तो उसने ब्राह्मण को कहते हुए सुना, 'मैं तो पहले ही कह रहा था कि इस नगर को छोड़ देना चाहिए। तुम लोगों को ही अपने रिश्तेदारों के समीप रहने की इच्छा थी, इसलिए अन्यत्र जाने की तुम्हारी मर्ज़ी नहीं थी। अब प्राण-संकट आ गया है। क्या करें, कुछ समझ में नहीं आता।'

पत्नी बोली, 'अरे, मेरी बात मानो। मुझे मरने के लिए जाने दो। मैं दो बच्चों की माँ बन गई हूँ। जीवन का बहुत सुख भोग लिया।'

ब्राह्मण बोला, 'वाह, तुम्हें कैसे मरने दूँ? लोग क्या कहेंगे? और इन बच्चों की देखभाल कौन करेगा?'

ब्राह्मणी बोली, ''मैं अकेली बच्चों की कैसे देखभाल कर सकूँगी? मैं न कमाई कर सकती हूँ, न बच्चों की रक्षा कर सकती हूँ। तुम बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा की अच्छी व्यवस्था कर सकोगे। इसलिए मेरा ही मरना ठीक होगा।'

ब्राह्मण बोला, 'मैंने तुम्हारे साथ जब विवाह किया था तो सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा का वचन दिया था। तुम्हें मैं हरगिज़ मरने के लिए नहीं भेज

सकता।'

इस बार कन्या बोली, 'मेरी बात सुनिए। मुझे मरने के लिए जाने दीजिए। वैसे भी मैं विवाह के बाद यह घर छोड़ दूँगी। फिर साथ अभी ही घूट जाए तो क्या हर्ज है?'

इस तरह उन तीनों में आत्मबलिदान की होड़ लगी थी। प्रत्येक चाहता था कि यह अवसर उसी को मिले।

कुन्ती को समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर यह मरने की नौबत क्यों आ पहुँची है। वह आवाज़ लगाकर अन्दर गयी और उनसे इस विषय में पूछा।

ब्राह्मण ने बतलाया कि इस नगर के पास ही वन में बक नाम का एक मनुष्य-मांसाहारी राक्षस रहता है। प्रतिदिन उसे एक बड़ी गाड़ी भरकर भोजन और एक मनुष्य खाने को चाहिए। उसने यह व्यवस्था कर रखी है कि बारी-बारी से प्रत्येक परिवार से यह आपूर्ति की जाए। आज हमारी बारी है। हममें से कौन मरने के लिए राक्षस के पास जाए, यही हमारे दुःख का विषय है।

कुन्ती ने कहा, 'क्या आपके नगर में कोई राजा नहीं है जो इस संकट में से आप लोगों को बचाए।'

ब्राह्मण बोला, 'है, मगर वह मूर्ख और कायर है। हम लोगों से कर वसूल करके सुख से अपने महल में रहता है।'

कुन्ती बोली, 'अच्छा, ऐसा करो। अन्न की व्यवस्था करो। उसे लेकर तुम लोगों की बजाय मेरा पुत्र राक्षस के पास चला जाएगा।'

ब्राह्मण बोला, 'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आप हमारे अतिथि हैं। हम आपको ऐसे संकट में कैसे डाल सकते हैं? राक्षस तो आपके पुत्र को मारकर खा जाएगा?'

कुन्ती बोली, 'नहीं, ऐसा नहीं होगा। मेरे पुत्र को मन्त्रविद्या सिद्ध है जिससे वह राक्षस का नाश कर देगा। मैंने स्वयं इस विद्या का कमाल देखा है। इसलिए डरने की कोई बात नहीं है। आप बिलकुल निश्चिन्त होकर अन्न की व्यवस्था करें।'

कुन्ती के बार-बार समझाने पर ब्राह्मण-परिवार को मन्त्र की सिद्धि का विश्वास हो गया। और वे गाड़ी-भर भोजन की व्यवस्था करने में जुट गए।

कुन्ती ने सारी बात भीम को बतायी तो वह आनन्दित हो गया। फिर भीम बोला, 'एक तो आज खूब खाने को मिलेगा। भिक्षा के अन्न में तो भूखे रहना पड़ता है। दूसरे कई दिनों के आवास के कारण हाथ-पाँव शिथिल हो

गए हैं। आज ज़रा ज़ोर-आजमाई का अवसर मिलेगा।'

अन्न-वाली गाड़ी तैयार होने पर भीम उसमें सवार हो गया और ब्राह्मण के बतलाए मार्ग पर चल दिया। वन में पहुँचने पर वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाया, 'अरे बकासुर, आ जा। तेरा भोजन आ गया है। जल्दी आ, नहीं तो कुछ नहीं बचेगा।'

भीम ने ज्यों ही बैलों को गाड़ी से खोला, वे तेज़ी से नगर की ओर भाग गए। उसने एक बार फिर बकासुर के नाम की आवाज़ लगायी। फिर वह स्वयं खाने बैठ गया। इतना स्वादिष्ट और इतनी प्रचुर मात्रा में भोजन उसे कई दिनों में मिला था।

उसके खाना शुरू करते ही बक आ पहुँचा। अपने भोजन पर कोई और हाथ साफ़ कर रहा है, यह देखकर वह अत्यन्त क्रोधित हो उठा और भीम को मारने दौड़ा।

भीम ने उसकी ओर पीठ कर ली और खाना जारी रखा।

बक भीम की पीठ पर मुक्के मारता रहा और भीम खाता रहा। भीम तब रुका, जब भोजन पूरा हो गया। उसने एक बड़ी डकार ली। उसके बाद उसने बक की खबर लेना शुरू किया।

शीघ्र ही बक ने दर्द के मारे चिल्लाना शुरू कर दिया। उसके कई रिश्तेदार इकट्ठे हो गए। बक की जैसे पिटाई-कुटार्द हो रही थी, उसे देखकर सभी डर गए और दूर खड़े हो गए।

बक की पिटाई करने के बाद भीम ने उसके अंग-प्रत्यंग ऐसे तोड़ दिए, जैसे वो कोई खिलौना हो। उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर भीम ने उसके रिश्तेदारों से कहा, 'देखो, अगर भविष्य में कभी मनुष्य का मांस खाया तो तुम्हारे भी ऐसे ही टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।'

वे इतने डर गए कि भीम को प्रणाम कर वचन दिया कि नरमांस तो वे कभी खाएँगे ही नहीं, किसी मनुष्य को भी कभी तंग वे नहीं करेंगे।

(आदिपर्व से)

वामदेव के घोड़े

एक बार राजा शल शिकार खेलने वन में गया। उसने एक भयंकर हिंस्र पशु को बाण मारा। बाण शायद अंग में सही नहीं घुसा। पशु घायल होकर भागने लगा।

राजा ने सारथी से कहा, 'घोड़े तेज़ दौड़ाओ। जल्दी उस पशु के पास चलो जिससे वह मारा जा सके।'

सारथी ने घोड़े बहुत तेज़ दौड़ाए, मगर रथ पशु के पास नहीं पहुँच सका। सारथी बोला, 'महाराज! इस पशु के पास पहुँचना सम्भव नहीं है। इसे छोड़ दीजिए। यदि रथ में वाम्य घोड़े होते तो सहज ही यह पकड़ा जाता।'

राजा बोला, 'सारथी, वाम्य घोड़े कौन-से होते हैं? वे कहाँ मिलते हैं? आजतक तुमने यह बात मुझे क्यों नहीं बतायी? जल्दी बोलो, नहीं तो तुम्हारा सिर काट दूँगा।'

सारथी घबरा गया। उसने कुछ नहीं कहा। राजा के दोबारा पूछने पर भी वह चुप रहा। राजा ने तलवार निकाल ली। उसने ज्यों ही हाथ ऊपर किया, सारथी हाथ जोड़कर बोल पड़ा, 'महाराज मैं ऋषि के भय से बोल नहीं रहा था। वामदेव मुनि के पास दो घोड़े हैं जिन्हें वाम्य कहते हैं। वे हवा से तेज़ दौड़ सकते हैं।'

यह सुनकर राजा ने आज्ञा दी कि रथ को ऋषि वामदेव के आश्रम में ले चलो।'

वहाँ पहुँचकर राजा बोला, 'ऋषिवर, मेरे बाण से घायल एक हिंस्र पशु भाग रहा है। ऐसे पशु बड़े भयानक होते हैं। उसे पकड़ने के लिए मुझे अपने वाम्य अश्व देने की कृपा कीजिए।'

ऋषि बोले, 'राजन्, मैं तुम्हें घोड़े दे रहा हूँ, मगर अपना काम होते ही इन्हें लौटा देना।'

राजा ने घोड़े रथ में जुड़वा दिए। ऋषि को नमस्कार कर राजा वन में घायल पशु का पीछा करने चला।

जब पशु घायल हो गया और मिल गया तो राजा सारथी से बोला, 'महल चलो। ऐसे तेज़ घोड़ों की ऋषि को क्या आवश्यकता। ये मेरे पास ही रहेंगे।'

दोनों घोड़े राजा के अस्तबल में बाँध दिए गए।

ऋषि ने काफ़ी समय राजा की राह देखी। उसे राजा की नीयत पर शक हो गया। उसने अपने शिष्य को कहा, 'राजा से जाकर कहो कि यदि तुम्हारा काम हो गया हो तो मेरे घोड़े वापस कर दो।'

शिष्य राजा के पास गया और गुरु का सन्देश उसे सुनाया।

राजा बोला, 'ऐसे घोड़ों की ऋषियों को क्या आवश्यकता है? ये तो राजा के पास ही ठीक हैं। तुम ऋषि को यह उत्तर दे देना। उन्हें पूछना कि किसी और चीज़ की आवश्यकता हो तो बताएँ।'

शिष्य ने आश्रम में पहुँचकर सारी बात गुरु को बतायी। वामदेव नाराज़ हो गए। वे स्वयं राजा के पास पहुँचे। बोले, 'राजन्, मेरे दोनों वाम्य अश्व वापस कर दो। उन घोड़ों ने निश्चय ही तुम्हारा असाध्य काम पूरा कर दिया होगा।'

राजा ने कहा, 'हे वामदेव! आपको मैं दो हृष्ट-पुष्ट बैल देता हूँ। ये आपके अधिक काम आएँगे। आपको घोड़ों का क्या उपयोग? आपका सारा समय तो वेद-मन्त्रों में ही जाता होगा।'

वामदेव ने कहा, 'हमारा समय तो वेद-मन्त्रों के लिए ही नियत है। परन्तु कुछ आश्रम के या अन्य काम होते हैं, अतः वाहन के लिए घोड़े ही चाहिए।'

'ऋषिवर! चार अच्छे गधे या चार अच्छी नस्ल के खच्चर भी आपका काम चला सकते हैं। दूसरे घोड़े भी काम आ जाएँगे। तेज़ वाम्य घोड़े तो राजाओं के पास ही होने चाहिए। इसलिए ये अब मेरे ही हैं। ऐसा समझ लीजिए।'

वामदेव बहुत नाराज़ हो गए। बोले, 'दूसरे की चीज़ उधार लेकर तुम वापस नहीं करना चाहते। यह कर्म बहुत भयंकर है। अगर तुम मेरे घोड़े वापस न करो तो मेरी आज्ञा से लोहे के शरीर-वाले विकराल राक्षस तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे।'

राजा ने कहा, 'आप ब्राह्मण होकर मन और वाणी से मेरी हत्या की बात करते हैं। मेरे सेवक चाहें तो क्षण-भर में आपको और आपके शिष्यों को यमलोक भेज देंगे।'

वामदेव के क्रोध की सीमा न रही। उनके मन्त्र पढ़ते ही लोहे के शरीर-वाले चार विकराल राक्षस प्रकट हो गए। राक्षसों ने क्षण-भर में राजा को मार गिराया और लुप्त हो गए।

राजा के मरने का समाचार पाकर लोग इकट्ठा हो गए। उन्होंने उसका

अन्त्य संस्कार किया और उसके छोटे भाई दल का राज्याभिषेक किया।

कुछ दिनों बाद वामदेव दोबारा महल में गए। नए राजा को अपने अश्व लौटा देने को कहा।

राजा दल अपने भाई से भी बुरा निकला। उसने अपने सारथी को आज्ञा दी, 'एक विष-बुझा बाण ले आओ। मैं इस वामदेव को घायल कर यहीं गिरा देता हूँ, ताकि महल के कुत्ते इसका मांस खा सकें।'

सारथी बाण ले आया।

वामदेव ने कहा, 'राजा तुम्हारा एक अत्यन्त प्रिय पुत्र है। यदि तुम बाण मुझपर चलाओगे तो मेरी आज्ञा से बाण दिशा बदलकर तुम्हारे पुत्र को मार देगा।'

राजा ने वामदेव की एक न सुनी और बाण चला दिया। ऋषि के मन्त्र-बल से बाण उनका चक्कर लगाकर अन्तःपुर में गया और खेलते हुए राजपुत्र के हृदय में घुस गया।

यह समाचार राजा के पास पहुँचा तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसने एक और बाण मँगाया। बाण ज्यों ही धनुष पर चढ़ाया, ऋषि के मन्त्र से राजा का हाथ, बाण और धनुष एक-दूसरे से चिपक गए। लाख कोशिश करने पर भी राजा न अपना हाथ छुड़ा सका और न बाण ही चला सका।

पुत्र-शोक से दुःखी और राजा के जकड़े जाने से भयभीत रानी ने दौड़कर ऋषि के चरणों में अपना सिर रख दिया। उसने बार-बार क्षमा माँगी।

द्रवित हो ऋषि ने राजा को क्षमा कर सहज बना दिया।

अक्ल ठिकाने लगने पर राजा ने भी ऋषि को नमस्कार किया और अपने कर्मों के लिए क्षमा माँगी। उसने तुरन्त अपने सारथी को ऋषि के अश्व लौटाने की आज्ञा दी।

(आरण्यकपर्व से)

ब्राह्मण की शिक्षा

कौशिक नामक वेदों का अध्ययन करनेवाला, तपोधन एवं धर्मात्मा ब्राह्मण था।

एक बार कौशिक एक पेड़ के नीचे बैठकर वेदों का अध्ययन कर रहा था। पेड़ पर एक बगुली बैठी थी, उसने कौशिक के शरीर पर बीट कर दी। कौशिक क्रोधित हो गया। उसने क्रोध से बगुली को देखा और कुछ अपशब्द कहे। कौशिक की दृष्टि और शब्दों के प्रभाव से बेचारी बगुली नीचे गिर गयी और तत्काल मर गयी। कौशिक को अपने कुकर्म पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह बार-बार शोक प्रकट करता हुआ अपने अनुचित कार्य पर लज्जित था। अध्ययन खण्डित हो गया था। चलो कुछ दूसरा काम कर लें, यह सोचकर वह उठा और गाँव की ओर चल दिया। भिक्षा माँगने का काम ही पूरा कर लूँ, यह तय करके वह दो-तीन घरों पर गया।

उसके बाद अगले दरवाज़े पर जब वह ज़ोरों से बोला 'माई, भिक्षा दो' तो अन्दर से एक स्त्री का उत्तर आया 'रुको।' रुकने को उस घर की मालकिन ने कहा था। वह बर्तन धो रही थी। जैसे ही वह उठी उसका पति घर आ गया। उसे बड़ी भूख लगी थी। स्त्री पति की सेवा में जुट गयी। पति का भोजन निपटने पर जब वह खाली बर्तन धोने के लिए रखने गयी तो उसे भिक्षुक का ध्यान आया। वह भिक्षा लेकर बाहर आयी।

ब्राह्मण बहुत नाराज़ था। बोला, 'कितनी देर लगा दी। इतना समय लेना था तो मुझे रोका ही क्यों?'

स्त्री शान्ति से बोली, 'क्षमा करिए ब्राह्मण देवता! मेरा पति आ गया था। पति का जब कोई काम होता है तो मैं सारे काम अलग रख देती हूँ।'

ब्राह्मण बोला, 'तुम्हें पता नहीं है, ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ होते हैं। इसलिए ब्राह्मण का काम सर्वप्रथम करना चाहिए। ब्राह्मण नाराज़ हो जाएँ तो सबको जलाकर राख कर सकते हैं।'

स्त्री बोली, 'तपोधन! क्रोध न करें। मैं कोई बगुली नहीं हूँ जो क्रुद्ध दृष्टि से जल जाऊँगी। आप क्रोधित होकर मेरा क्या बिगाड़ लेंगे?'

बगुली का उल्लेख सुनकर ब्राह्मण अवाक् रह गया।

स्त्री आगे बोली, 'मैं किसी ब्राह्मण का अपमान नहीं करती, पर मेरा

पहला धर्म पति-सेवा है। उसे मैं जी-जान से करती हूँ। इसी धर्म-पालन के कारण कई बार मुझे अनदेखी चीज़ों का पता चल जाता है। जैसे आपके चेहरे को देखते ही बगुली की हत्या का मुझे आभास हो गया। सुनो, मनुष्य का एक बहुत-बड़ा शत्रु है। वह उसके शरीर में ही रहता है। उसका नाम है—क्रोध। जो क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है, मेरी दृष्टि में वही ब्राह्मण है। ब्राह्मणत्व की यह पहली पहचान है, ऐसा भी कह सकते हैं। वैसे तो आप भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हैं। फिर भी मेरा विचार है कि आपको धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सका है। यदि आपमें सच्ची ज्ञान-पिपासा हो तो मिथिला में रहनेवाले कसाई के पास जाइए। वह आपको सही मार्ग दिखाएगा। यदि मेरे मुँह से कोई ग़लत बात निकल गई हो तो मुझे क्षमा कीजिए।'

ब्राह्मण बोला, 'शुभे! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हारी बातों से प्रसन्न हूँ। तुमने मुझपर जो छींटाकशी की, वह अनुचित नहीं है वरन् मेरे हित में है। तुम्हारी बताई हुई बातों का मैं अवश्य ध्यान रखूँगा।'

उस स्त्री से इंजाज़त लेकर कौशिक अपनी ही निन्दा करता हुआ घर पहुँचा। सारी बातों पर शान्ति से विचार करने पर उसने मिथिला जाने का निश्चय किया। अनेक जंगल, गाँव और नगरों को पार करता हुआ वह राजा जनक की मिथिला नगरी में पहुँचा।

मिथिला बड़ी शानदार नगरी थी। अनेक गोपुर, महल, अट्टालिकाएँ उस नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे। तरह-तरह की बड़ी-बड़ी दुकानें थीं। अनेक सुन्दर उद्यान थे। कौशिक पहले तो इधर-उधर घूमता रहा। फिर उसने किसी से धर्मव्याध नामक कसाई का ठिकाना पूछा। गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर उसने देखा—कसाई सूअर, भैंसे इत्यादि पशुओं का मांस काट-काट कर बेच रहा है। मांस के जो टुकड़े वह नीचे फेंक देता था, उन पर कुत्ते, कौवे और गिद्ध झपट रहे थे। चारों ओर गन्दगी थी। दुर्गन्ध आ रही थी। कौशिक नाक पर हाथ रखकर थोड़ी दूर जा खड़ा हुआ। खरीददारों की भीड़ में भी कसाई ने न जाने कैसे उसे पहचान लिया। सारा काम छोड़कर हाथ-पैर धोकर वह आगे आया और बोला, 'द्विजश्रेष्ठ! मेरा नमस्कार स्वीकार करिए। आपका स्वागत है। मैं ही वह कसाई हूँ जिसके पास उस पतिव्रता स्त्री ने आपको भेजा है। ब्राह्मण देवता, यह स्थान आपके योग्य नहीं है। आपकी अनुमति हो तो मेरे घर चलिए।'

कौशिक ने कहा, 'अवश्य, अवश्य।'

फिर वे दोनों कसाई के घर गए। घर बहुत सुन्दर और साफ़-सुथरा था।

कसाई ने ब्राह्मण को हाथ-पैर धोने के लिए पानी और बैठने के लिए आसन दिया। सुख से बैठने के बाद ब्राह्मण बोला, 'भाई, मैं तो समझता हूँ कि यह मांस बेचने का काम तुम्हारे लिए सर्वथा अयोग्य है। तुम यह काम करते हो, यह देखकर मुझे बहुत दुःख हो रहा है।'

कसाई बोला, 'यह काम मेरे बाप-दादों के समय से चला आ रहा है। कुल का परम्परागत काम है, इसलिए मैंने भी इसे आत्मसात कर लिया। कृपया, नाराज़ मत होइए। विधाता ने मुझे इस कुल में जन्म दिया है। वृद्ध माँ-बाप की आज्ञा का पालन और उनकी सेवा मैं परम धर्म मानता हूँ। मैं सच बोलता हूँ, किसी की निन्दा नहीं करता। जितना सम्भव हो सके, उतना दान करता हूँ। मैं स्वयं कोई हत्या नहीं करता हूँ। दूसरों के मारे हुए पशुओं का मांस बेचता हूँ। मैं स्वयं मांस नहीं खाता। अब मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, जिसके प्रभाव से मुझे सिद्धि प्राप्त हुई है, उसका भी दर्शन कर लो। चलो, अन्दर चलकर मेरे माँ-बाप के दर्शन कर लो।'

उसके कहने पर कौशिक घर के भीतर गया। अन्दर से घर अत्यन्त सुन्दर और स्वच्छ था। सुन्दर आसन पर कसाई के वृद्ध माँ-बाप बैठे थे। उनके वस्त्र और शरीर स्वच्छ थे। कसाई ने उन्हें प्रणाम किया।

वृद्ध ने कहा, 'बेटा उठो। तुम धर्म के ज्ञाता हो। हमारी सेवा से हम दोनों तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुम हमारी नियमानुसार बड़े प्रेम से सेवा करते हो। हम दोनों को ही देवता समझते हो। तुम्हारा कल्याण हो।'

कसाई ने ब्राह्मण का अपने माँ-बाप से परिचय कराया। उन दोनों ने ब्राह्मण का सत्कार किया। सारे घर का वातावरण अत्यन्त पवित्र था।

कसाई ने ब्राह्मण से पूछा, 'तुम्हारे माँ-बाप भी वृद्ध होंगे। उनकी देखभाल कौन करता है?'

ब्राह्मण ने सिर नीचा कर लिया और कोई उत्तर नहीं दिया।

कसाई ने कहा, 'लगता है, आपने माता-पिता की उपेक्षा की है। उनसे आज्ञा लिये बिना विद्याध्ययन के लिए घर से चले गए। यह उचित नहीं हुआ। इसीलिए तुम्हारा धर्माचरण एवं व्रत-वैकल्य व्यर्थ हुए हैं। मेरी बात मानो। घर जाओ। अपने माता-पिता की सेवा करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।'

(आरण्यकपर्व से)

विद्या-प्राप्ति का छोटा मार्ग

भारद्वाज और रैभ्य परम मित्र थे। दोनों एक ही आश्रम में बड़े आनन्द से रहते थे।

रैभ्य के दो पुत्र थे—अर्वावसु और परावसु।

भारद्वाज के पुत्रों के नाम थे—यवक्री और यवक्रीत।

रैभ्य और उसके पुत्र बड़े विद्वान् थे। उनका बड़ा नाम था। तरह-तरह के आयोजनों में उनको आमन्त्रित किया जाता था।

एकान्तप्रिय भारद्वाज पूजा-पाठ और तपश्चर्या में मग्न रहता था। वह कहीं आता-जाता न था। लोग उसे कम ही जानते थे।

यवक्रीत ने देखा कि उसके तपस्वी पिता का लोग आदर-सत्कार नहीं करते। उसे लोगों पर बहुत क्रोध आता था। रैम्य और उसके पुत्रों के विषय में उसके मन में बड़ी जलन होती थी।

परिस्थिति सुधारने के लिए यवक्रीत ने स्वयं तप करना शुरू किया। धीरे-धीरे तपस्या कठोर होती गयी।

एक बालक को घोर तपस्या करते देख इन्द्र ने उससे तपस्या का उद्देश्य पूछा।

यवक्रीत ने कहा 'भगवान्, गुरु के पास जाकर कठोर परिश्रम किए बिना ही ज्ञान प्राप्त किया जा सके, यही मेरा उद्देश्य है। दीर्घकाल की मेहनत की बजाय जल्द-से-जल्द सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाना चाहिए।'

इन्द्र बोला, 'तुम जिस मार्ग से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा कर रहे हो, उससे यथायोग्य मार्ग नष्ट हो जाएगा। इस तरह कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। इसलिए जाओ, गुरु के पास रहकर परिश्रमपूर्वक ज्ञान-लाभ करो।'

यवक्रीत को यह स्वीकार्य नहीं था।

इन्द्र के जाते ही वह फिर तपस्या में जुट गया। वह कठोर नियम-पालन करता था। तरह-तरह से शरीर को कष्ट देता था।

इन्द्र पुनः प्रकट हुआ, बोला, 'मुनिवर, तुमने जिस मार्ग को पकड़ा है उससे कार्य की सिद्धि असम्भव है। गुरु के बिना ज्ञान की बात समझ में नहीं आती। चलो, केवल तुम्हें और तुम्हारे पिता को ज्ञान मिल जाएगा, यह

आशीर्वाद देता हूँ।'

फिर भी यवक्रीत को सन्तुष्ट न देखकर इन्द्र ने एक अत्यन्त बृद्ध और रोगजर्जर मनुष्य का वेश धारण कर लिया। गंगा के जिस क्षेत्र में यवक्रीत स्नानादि करता था, वहीं इस बूढ़े ने बैठकर गंगा पर पुल बनाने का काम शुरू कर दिया। वह बड़े कष्ट से किनारे पर बैठकर मुट्ठी भर-भर कर रेता गंगा में डालता था। यवक्रीत को दिखाने के लिए यही उपक्रम था।

यवक्रीत ने पूछा, 'बाबा, यह क्या कर रहे हो?'

बूढ़ा बोला, 'बेटा, मैं गंगा पर पुल बना रहा हूँ। यहाँ नदी काफ़ी चौड़ी और गहरी है। उस पार जानेवालों को कष्ट होता है।'

यवक्रीत हँसते हुए बोला, 'बाबा, यहाँ नदी का प्रवाह बहुत गहरा और तेज़ है। उसपर पुल बनाने का तुम्हारा काम कभी भी सम्भव नहीं होगा। इसलिए यह काम छोड़ो और वह काम करो जो तुम कर सकते हो।'

बूढ़ा बोला, 'मुनिवर, तुम भी तो ऐसा ही कर रहे हो। अध्ययन किए बिना ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो। ऐसे उद्देश्य से की गई तपस्या का फल मिलना भी असम्भव है।'

यवक्रीत इन्द्र को पहचान गया।

इन्द्र ने उसे कहा, 'मैं पहले ही तुम्हें और तुम्हारे पिता को ज्ञान-प्राप्ति का आशीर्वाद दे चुका हूँ। मगर ऐसा सबके लिए सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। अब तुम निरर्थक तपस्या छोड़कर आश्रम लौट जाओ।'

आश्रम में जाकर यवक्रीत ने पिता को सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

पिता भारद्वाज बोले, 'इस तरह का वर प्राप्त करने से तुम्हारे मन में अहंकार उत्पन्न हो जाएगा जो बड़ा घातक होता है। पुत्र! आलस्य का त्याग कर अध्ययन करना सीखो। उस रैम्य और उसके पुत्रों की ओर कुदृष्टि से मत देखो। वे बड़े आदरणीय और शक्तिशाली हैं।'

यवक्रीत अपने अहंकार के वशीभूत बना रहा। वह वन के अन्य तपस्वियों और मुनियों का समुचित आदर नहीं करता था। उन्हें कष्ट भी देता था। रैम्य के प्रशंसकों के वह विशेष विरुद्ध रहता था। इन्द्र की कृपा से उसे विद्या की प्राप्ति तो हुई पर अनायास मिली इस विद्या का न तो उसे कुछ लाभ मिला, न औरों से मान-सम्मान।

उद्दण्डता करता हुआ वह एक बार रैम्य के निवास में पहुँच गया। ऋषिवर वन में गए थे। दोनों पुत्र भी बाहर गए थे। रैम्य की पुत्रवधू अकेली घर पर थी। यवक्रीत ने बड़ी अकड़ से उसे अपना परिचय दिया और अपना

पूजा-सत्कार करने को कहा। बेचारी वह ऐसा कर रही थी, तभी यवक्रीत ने बड़ा अशिष्ट व्यवहार कर उसे अपमानित और लांछित कर दिया।

जब आश्रमवासियों को यह पता चला तो उन्होंने यवक्रीत को अत्यन्त कठोर दण्ड दिया।

(आरण्यकपर्व से)

लोपामुद्रा

लोपामुद्रा विदर्भ के राजा की पुत्री थी। जन्म के समय वह बिजली की तरह प्रकट हुई थी। उसका शरीर चमक रहा था, मुख अत्यन्त सुन्दर था। जब जवान हुई तो आभूषणों से अलंकृत, सखियों के साथ विहार करती हुई लोपामुद्रा रोहिणी नक्षत्र जैसी दिखाई पड़ती थी। शील और सदाचार से सम्पन्न लोपामुद्रा के विवाह के लिए राजा चिन्तित हो गया।

मुनि अगस्ति घूमते-घामते विदर्भ पहुँचे। उन्होंने राजा से कहा, 'हे राजन्, मैं विवाह करना चाहता हूँ। तुम्हारी कन्या मुझे उपयुक्त जान पड़ती है। इसलिए उसे मुझे ब्याह दो।'

कहाँ फूल जैसी अनुपम सुन्दरी लोपामुद्रा और कहाँ यह वनवासी अकिंचन रूक्ष ऋषि। राजा चिन्ता में पड़ गया। उसने रानी से कहा, 'अगर पुत्री का विवाह अगस्ति से न करूँ तो वे क्रोधित हो जाएँगे। वे बड़े शक्तिशाली हैं। क्रोध से हमें भस्म भी कर सकते हैं।'

राजा के शब्द लोपामुद्रा ने सुन लिये। वह सामने आकर बोली, 'पिताजी, चिन्ता छोड़िए। मेरा विवाह अगस्ति मुनि से कर दीजिए। मैं सारी परिस्थिति सँभाल लूँगी।'

और कोई चारा नहीं था, इसलिए राजा को पुत्री की बात माननी पड़ी।

विवाह के बाद मुनि ने लोपामुद्रा से कहा कि अब इन बहुमूल्य वस्त्र-अलंकारों का त्याग कर दो। उसने तत्काल ऐसा ही किया। मृगचर्म और पेड़ों की छाल से बने वस्त्र धारण कर लिये। वह मुनि के साथ वन में आश्रम में रहने लगी और जी-जान से उनकी सेवा करने लगी।

बहुत समय बीत जाने पर एक दिन अगस्ति मुनि ने लोपामुद्रा से कहा, 'हमें पुत्र-प्राप्ति की इच्छा है।

लोपामुद्रा बोली, 'यह मृगचर्म, यह पर्णकुटी, यह आश्रम, ये आसपास के तपस्वी, यह सब सांसारिक इच्छाओं के अनुरूप नहीं है। आपकी इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब हम दोनों या तो मेरे पिता के महल में चलकर रहें या फिर वैसी व्यवस्था आप और कहीं करें।'

मुनि चक्कर में पड़ गए और बोले, 'अच्छा, तुम अभी तो तापसी का

धर्माचरण चालू रखो। मैं कुछ धन-प्राप्ति की व्यवस्था करता हूँ।'

मुनि राजा श्रुतर्वा के पास गए। वह अन्य राजाओं से विशेष सम्पन्न समझा जाता था। राजा अपने पूरे मंत्रिमण्डल के साथ राज्य की सीमा पर ऋषि की अगवानी के लिए पहुँचा। ऋषि का आदर-सत्कार करके हाथ जोड़कर राजा ने उनके आने का कारण पूछा।

मुनि बोले, 'राजन्, मैं धन-प्राप्ति के लिए तुम्हारे पास आया हूँ। यथाशक्ति अपने धन का जो भी भाग तुम मुझे दे सको, दे दो।'

राजा की आज्ञा से प्रधान ने राज्य के जमा-खर्च का सारा हिसाब मुनि के सामने रख दिया।

राजा बोला, 'हे मुनिवर! इस हिसाब-किताब को देखकर जितना भी धन आप अपने लिए चाहें, वह आपके पास अवश्य पहुँचाया जाएगा।'

मुनि समतोल बुद्धि के व्यक्ति थे। उन्होंने सोचा—यदि मैं थोड़ा भी धन ले लूँ तो दूसरों को ज़रूर कष्ट होगा। मुनि ने राजा को अपना विचार बताया। दोनों चर्चा करने लगे। अन्त में वे दोनों राजा ब्रह्मश्व के पास गए।

ब्रह्मश्व ने भी सीमा पर आकर उन दोनों का समुचित स्वागत किया। राजा और उसकी पत्नी ने मुनि की यथायोग्य पूजा की। दोनों हाथ जोड़कर मुनि से बोले, 'भगवन्, आपने बड़ी कृपा की जो हमारे राज्य में पधारे। बताइए, हम आपकी क्या सेवा करें?'

मुनि का मन्तव्य सुनकर राजा ब्रह्नश्व ने भी राज्य का सारा हिसाब-किताब उन्हें दिखाया।

मुनि ने देखा कि इसमें से थोड़ा भी धन निकाल लिया जाए तो बहुत-कुछ गड़बड़ा जाएगा और अनेको को कष्ट होगा। उन्होंने धन लेने से मना कर दिया।

इसके बाद मुनि अगस्ति, राजा श्रुतर्वा और राजा ब्रह्नश्व महाधनी राजा त्रसदस्यु के पास गए।

त्रसदस्यु ने उनका विधिपूर्वक स्वागत किया। उसने तीनों के साथ-साथ आने का कारण पूछा।

मुनि ने सारी जानकारी उसको दी और कहा, 'यथाशक्ति मुझे धन दो।'

त्रसदस्यु ने भी राज्य में सारा धन कैसे आता है और कहाँ खर्च होता है, इसका पूरा ब्यौरा मुनि के सामने रखा।

राजा बोला 'इसमें जिस मद में कटौती करने को कहें, उसे करके धन आपके पास भिजवा देता हूँ।'

समबुद्धि अगस्ति को धन की आवक-जावक इतनी सन्तुलित लगी कि अपने लिए उसमें से कुछ लेने की कल्पना भी उसे अनुचित लगी।

तीनों राजा और मुनि, कहाँ से धन मिल सकता है, इसपर विचार करने लगे। उन्हें लगा कि पृथ्वी पर सबसे धनवान् इल्वल राक्षस है। अतएव उसी से याचना करनी होगी।

तीनों राजा और मुनि इल्वल के पास गए। राक्षस ने सबका गर्मजोशी से स्वागत किया। मुनि की यथाविधि पूजा की। वह बोला, 'मैं पहले आप लोगों के भोजन की व्यवस्था करता हूँ, बाद में बैठकर बातें करेंगें।'

भोजन परोसा गया तो वह बकरे का मांस था। तीनों राजा घबरा गए। उन्होंने मुनि से कहा कि कुछ गड़बड़ लगता है। यह राक्षस मायावी है, कुछ भी कर सकता है।

मुनि ने कहा, 'आप लोग चिन्ता न करें। मैं स्थिति से निपट लूँगा।'

फिर भी डर के मारे तीनों राजाओं ने खाना नहीं खाया। मुनि ने ही सारा मांस खा डाला और ज़ोर की डकार की।

इल्वल राक्षस बात करने आया। उसने ज़ोर से अपने भाई वातापि को आवाज़ दी। कोई उत्तर नहीं आया। वह फिर ज़ोर से चिल्लाया, 'अरे वातापि! बाहर आओ। ये अगस्ति मुनि आए हैं। इनसे बात करनी है।'

वातापि का फिर भी पता नहीं था।

अगस्ति मुस्कराकर बोले, 'इल्वल, मैं जानता हूँ तुम मायावी हो। तुमने माया से अपने भाई को बकरा बना दिया। फिर उसे पकाकर मुझे खिला दिया। अब तुम उसे बुला रहे हो। तुम्हारी माया से वह जीवित होकर मेरा पेट फाड़कर बाहर आ जाता। मगर मैंने भी सिद्धि प्राप्त की है। मैंने बकरे को पचाकर डकार दे दी है। अब तुम्हारा भाई कभी वापस नहीं आएगा।'

राक्षस इल्वल हार मान गया।

उसने मुनि को बहुत सारा धन और एक सोने का रथ दिया। उसने तीनों राजाओं को भी यथायोग्य उपहार दिए।

(आरण्यकपर्व से)

नल-दमयन्ती

पुण्यश्लोक राजाओं की सूची में नल का नाम सर्वप्रथम आता है। कहते हैं कि राजा नल उस समय पृथ्वी का सबसे सुन्दर मनुष्य था। वह धर्मवेत्ता था। प्रजा का पुत्रों की तरह पालन करता था। वह अश्वविद्या में बेजोड़ था। रसायन-विद्या एवं पाक-कला में निष्णात था।

राजा नल के राज्य से दूर विदर्भ राज्य में भीम नामक पराक्रमी राजा था। उसके तीन पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री का नाम दमयन्ती था। दमयन्ती की सुन्दरता की चर्चा सर्वत्र हो रही थी।

लोग नल की सुन्दरता की बात दमयन्ती को बतलाते थे। दमयन्ती की सखियाँ उसके सम्मुख राजा नल के गुणों का बखान करते नहीं थकती थीं। इस परस्पर जानकारी ने दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए उत्सुकता और आकर्षण उत्पन्न कर दिया। फिर सुनहले पंखों-वाले हंसों ने एक-दूसरे के पास सन्देश पहुँचाकर प्रेम के अंकुर को दृढ़ कर दिया।

उचित समय पर राजा भीम ने दमयन्ती के स्वयंवर की व्यवस्था की। उत्सव में अनेक राजा पधारे। कुछ देवता भी दमयन्ती को पाने के लिए वहाँ पहुँचे। दमयन्ती का तो नल को वरण करने का निश्चय था। उसे परेशानी तब हुई जब सभा में एक नहीं, पाँच नल बैठे थे। दमयन्ती समझ नहीं पा रही थी कि इनमें असली नल कौन-सा है। सूक्ष्म अवलोकन से उसे पता चला कि उनमें चार ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें पसीना नहीं आया है, जिनकी मालाओं के फूल नहीं मुरझाए हैं और जिनकी छाया नहीं दिखाई पड़ती। दमयन्ती को निश्चय हो गया कि ऐसे व्यक्ति मनुष्य नहीं हो सकते। अतएव उसने उस पाँचवें व्यक्ति के गले में माला डाल दी जिसे थोड़ा पसीना आया था और इस कारण उत्तरीय से रुक-रुककर वह हवा करता था; जिसकी माला के फूल मुरझा गए थे और गर्दन पर अप्रिय लग रहे थे और ज़मीन पर जिसकी छाया स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी। उसे विश्वास हो गया कि वही उसका नल है। उसका विश्वास सही साबित हुआ।

राजा नल अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह बोला, 'हे कल्याणी! तुमने देवताओं के समक्ष मुझ-जैसे मनुष्य का वरण किया है। तुम इस पति को सदैव अपने

वचन के अधीन समझना। जब तक मेरे प्राण हैं, तब तक तुम्हारे लिए मेरे मन में अनन्य प्रेम रहेगा।'

कुछ दिनों बाद राजा नल अपनी पत्नी दमयन्ती के साथ अपने नगर गया। वहाँ अनेक यज्ञ किए। धन-धान्य का दान दिया और कालान्तर में रमणीय वनों और कालान्तर में उपवनों में विहार किया।

दमयन्ती ने एक पुत्र और एक कन्या को जन्म दिया। बच्चों के लालन-पालन, राज्य के विविध काम और आमोद-प्रमोद में उनका समय आनन्द से बीत रहा था।

पुष्कर राज के आगमन और द्यूत के निमन्त्रण के साथ ही राजा नल की मति भ्रष्ट हो गयी। द्यूत चलता रहा और नल हारता रहा। सोना गया, रथ गए, बहुमूल्य वस्त्र गए, अपने और रानी के सारे आभूषण गए—सब-कुछ द्यूत में चला गया।

लोगों ने नल को खेल़ से परावृत्त करने का प्रयत्न किया। पर उसकी मति तो मारी गई थी। उसने एक न सुनी। अन्त में एक दिन वह राज्य भी हार गया।

रानी ने नल के विश्वासपात्र सारथी वार्ष्णेय को बुलाकर कहा, 'तत्काल दोनों बच्चों को पिताजी के पास पहुँचा दो। उसके बाद जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ चले जाना।'

वार्ष्णेय ने ऐसा ही किया। उसके बाद भटकता हुआ वह अयोध्या पहुँचा। वहाँ राजा ऋतुवर्ण ने उसे सारथी रख लिया।

राज्य हारने के बाद राजा नल ने सारे अलंकार उतार दिए। एक वस्त्र पहनकर वह महल से बाहर निकला। अलंकाररहित एक वस्त्र में दमयन्ती भी उसके पीछे चल पड़ी।

दोनों राज्य से बाहर हो गए। कन्दमूल, फल खाकर पेड़ों की छाया में वे दिन बिताने लगे। राजशय्या पर सोनेवाले ज़मीन पर रात काटने लगे। न अस्त्र, न शस्त्र। न सखा, न साथी। जंगली पशुओं से निहत्थे अपनी रक्षा करना, धूप-धूल-वर्षा-गर्मी से अपने को बचाना, भूख-प्यास-थकान-निद्रा से जूझना, अँधेरी रातों में सुरक्षित स्थान टटोलना—बड़ा कठिन समय था महलों में पले-बढ़े उन दोनों के लिए।

राजा ने सोचा, जीवन की आवश्यकताओं के लिए कुछ धन तो चाहिए। कहाँ से, कैसे आए धन! उसे कुछ बड़े सुन्दर सोने के पंखों-वाले कोमल स्वर-वाले पक्षियों का एक समूह दिखाई पड़ा। राजा ने सोचा, यदि इनमें से

कुछ को पकड़ लूँ तो किसी नगर में जाकर उन्हें बेचा जा सकता है। उसने घात लगाकर युक्ति से अपनी धोती उनपर फेंकी। सोचा था, चार-छः तो ज़रूर पकड़े जाएँगे। मगर दुर्भाग्य! उनमें से कोई पकड़ में आया ही नहीं, उलटे वे धोती लेकर उड़ गए। राजा के पास अब तन ढक़ने को भी कपड़ा नहीं रह गया था। किसी तरह कुछ समय पेड़ों के पत्तों को कमर पर अटका लिया। जब रानी सो रही थी तो चुपके-से उसकी साड़ी का एक टुकड़ा फाड़ लिया। लंगोटी की व्यवस्था हो गयी। बेचारी रानी को तन ढकने में भी परेशानी होने लगी।

राजा की आँखों में आँसू आ गए। सोचने लगा, रानी की इस दुर्दशा का कारण मैं ही हूँ। इसे अपने पिता के पास चले जाना चाहिए। लेकिन यह मुझे छोड़कर नहीं जाएगी। यदि मैं ही इसे छोड़ दूँ तो? तो वह बहुत दुखी होगी, लेकिन अन्ततः पिता के पास चली जाएगी। मगर तब इसकी सुरक्षा की व्यवस्था? मतिभ्रष्ट राजा के मन ने कहा—अरे यह पतिव्रता है। बड़ी शक्तिशालिनी है। यह अपनी रक्षा स्वयं कर लेगी। वन में रास्ता भी स्वयं खोज लेगी। अतः सोती हुई रानी को अपूर्ण वस्त्र के साथ छोड़कर राजा नल वहाँ से भाग गया।

जब दमयन्ती की नींद खुली तो देखा, नल पास नहीं है। सोचा—होगा आसपास। आ जाएगा। जब बहुत देर हुई और वह न आया तो रानी को चिन्ता हो गयी। कहीं वह किसी संकट में तो नहीं फँस गया। उसने ज़ोर-ज़ोर से राजा को बुलाना शुरू किया। जब कोई उत्तर नहीं आया तो आसपास खोजना शुरू किया। आवाज़ें लगाना चालू था, अब रोना भी आने लगा। जब शाम तक वह नहीं आया तो उसे शंका हुई कि कहीं नल मुझे छोड़कर तो नहीं चला गया। वह ज़ोर-ज़ोर से विलाप करने लगी। पागलों-जैसी चिल्लाती हुई वह इधर-उधर भागने लगी।

अपनी सुध-बुध खोकर वह नल को पुकारती हुई घूम रही थी। अचानक एक अजगर ने उसे पकड़ लिया और उसे निगलना शुरू किया। दमयन्ती नल के नाम से चिल्लाती रही। वन में किसी शिकारी को उसकी आर्त आवाज़ सुनाई पड़ी। वह तत्परता से उसे खोजता, दौड़ता आया और तत्काल अजगर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। दमयन्ती को उसके मुँह से छुड़ाया। फिर पानी लाकर उसे पिलाया और उसका शरीर धुलवाया। उसे खाने को दिया।

जब दमयन्ती ज़रा आश्वस्त हुई तो व्याध ने उसके बारे में पूछताछ की। यह स्त्री निराधार है, यह सोचकर व्याध ने उसको अपने वश में करने का प्रयत्न

शुरू किया। दमयन्ती पहले तो उसे समझाती रही। जब वह न माना तो दमयन्ती ने रणचण्डी का रूप धारण कर लिया। व्याध के हाथ से फरसा छीनकर उसे मौत के घाट उतार दिया। फिर वही फरसा लेकर नल को पुकारती और अपनी रक्षा करते हुए वह वन में संचार करने लगी।

कई दिन और कई रातें वह इस तरह घूमती रही। एक दिन व्यापारियों का एक काफ़िला उसे दिखाई पड़ा। वह उसके साथ हो ली। कई दिन कष्ट भोगने के बाद वह विदर्भ में अपने पिता के पास पहुँच गयी।

राजा नल वन में भटकता हुआ जंगली लोगों से मिलता हुआ सुदूर अयोध्या पहुँचा। उसने अपना भेष बदल लिया, चालढाल बदल ली, अपना नाम रखा बाहुक।

राजा ऋतुपर्ण के पास गया और बोला, 'राजन्! मैं अश्व-संचालन में बेजोड़ हूँ। पाक-कला जानता हूँ। आपके पास जो भी कठिन काम हो, उसे कर सकता हूँ। आजकल ज़रा आर्थिक संकट में हूँ, इसलिए मैं नौकरी करना चाहता हूँ।'

राजा ने उसे नौकर रख लिया, केवल अश्वशाला के लिए।

नल वहीं रहने लगा। दिन में घोड़ों की देखभाल करता, रात को रोता हुआ पत्नी को याद करता था। अपने कर्मों पर उसे बड़ा दुःख होता था। पत्नी की सुरक्षा की चिन्ता सताती थी। सोचता था, पता नहीं वह कभी उसे क्षमा करेगी भी या नहीं। अपने-आपमें बड़बड़ाता वह रात-भर जागता रहता था। बाहुक के इस विचित्र व्यवहार को धीरे-धीरे सभी जान गए।

दमयन्ती के पिता विदर्भराज भीम ने नल की खोज में दसों दिशाओं में दूत भेजे थे। उन्हें भी बाहुक की जानकारी हुई। सविस्तार समाचार विदर्भ भेजा गया।

दमयन्ती और उसके पिता ने इस विषय पर चर्चा की। बाहुक की कद-काठी नल से मिलती थी, उसका अश्वविद्या का ज्ञान नल-जैसा ही था और पत्नी-वियोग में बड़बड़ाना और रोना भी समझ में आता था। बाहुक को देखना आवश्यक था।

एक युक्ति चली गयी। राजा ऋतुपर्ण के दरबार में सन्देश भेजा गया कि परित्यक्ता दमयन्ती का पुनः स्वयंवर होनेवाला है, केवल एक दिन के बाद।

राजा ऋतुपर्ण ने स्वयंवर में जाने का मन बनाया। उसने बाहुक को आज्ञा दी कि ऐसा रथ तैयार करो कि एक दिन में विदर्भ पहुँच जाएँ। सामान्य सारथी के लिए यह असम्भव था। स्वयंवर की वार्ता और ऋतुपर्ण के उसमें जाने की

इच्छा से पहले तो बाहुक बड़ा क्रोधित हुआ, फिर दुःखी हुआ। मगर यात्रा के लिए तैयार हो गया। सोचा, दमयन्ती को कुशल देखकर वह एक दुःख से छुटकारा पा जाएगा।

बाहुक ने बहुत जाँच-परखकर शक्तिशाली अश्व छाँटे। रथ का सूक्ष्म निरीक्षण कर सारी तैयारी की। आकस्मिक संकटों से सामना करने की व्यवस्था की गयी।

यात्रा आरम्भ हुई। बाहुक ने अपनी सारी विद्या रथ-संचालन में लगा दी। वायु की गति से भी तेज़ रथ उड़ा जा रहा था। स्वयंवर के समय के पहले पहुँचना आवश्यक था। कहीं ऐसा न हो कि दमयन्ती किसी और की हो जाए और वह उसे देख भी न पाए। रास्ते में लोग अवाक् होकर उड़ते रथ को देख रहे थे।

वे विदर्भ पहुँचे। वहाँ किसी उत्सव की कोई तैयारी नहीं थी। नल परेशान, ऋतुपर्ण व्यथित। राजा भीम ने राजा ऋतुपर्ण के ठहरने की व्यवस्था की। बाहुक रथ को अश्वशाला में ले गया। घोड़ों को खोलकर उनकी सेवा करने लगा। उनके दाना-पानी की व्यवस्था कर स्वयं रथ में ही लेट गया।

उसकी सारी गतिविधियों को देखा-परखा जा रहा था। नल के बच्चे रथ देखने आए। उन्हें देखकर बाहुक रोने लगा। उसने उन्हें छाती से लगा लिया। इससे जब पूछा गया कि ऐसा क्यों कर रहे हो तो वह बोला—मेरे भी ऐसे ही बच्चे हैं।

बच्चे तो उसे नहीं पहचान सके, पर उसी समय सामने आई दमयन्ती से वह अपने को छिपा नहीं सका।

(आरण्यकपर्व से)

●●●
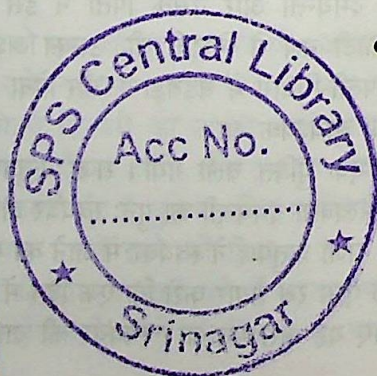
भारतीय साहित्य एवं संस्कृति पर आधारित प्रामाणिक पुस्तकें

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
100.00

जयशंकर प्रसाद की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

महाभारत की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. योगिनी दंडवते
100.00

स्वामी रामतीर्थ की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

प्रेमचन्द की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. मानसी
120.00

शरत्चन्द्र की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति पर आधारित प्रामाणिक पुस्तकें

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
100.00

जयशंकर प्रसाद की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

महाभारत की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. योगिनी दंडवते
100.00

स्वामी रामतीर्थ की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00

प्रेमचन्द की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. मानसी
120.00

शरत्चन्द्र की शिक्षाप्रद कहानियाँ
सं. डॉ. हरिवंश अनेजा
150.00